

सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर

डॉ० पुरुषोत्तम आसोपा



आज़ादी के बाद के हिंदी उपन्यास



राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

डॉ० पुरुषोत्तम आसोपा

प्रकाशक
सूर्य प्रकाशन मंदिर
बिस्सों का चौक
बीकानेर-३३४००१
प्रथम संस्करण मार्च, १९८३
मूल्य
अट्ठाईस रुपए पिचहत्तर पैसे मात्र
कलापक्ष हरिप्रकाश त्यागी
मुद्रक
भारती प्रिण्टर्स
दिल्ली ११००३२

AAZADEE KE BAAD KA HINDI UPANYAS
by Dr Purushottam Aasopa Price 28.75

अनुक्रम

39111983

3960

परिचय

आजादी के बाद का हिन्दी उपन्यास जिस तेजी से विकसित हुआ है यह किसी भी हिन्दी प्रेमी पाठक के लिए रुचि का कारण बन सकता है। उपन्यासों की लोकप्रियता इसका प्रमाण है। किन्तु दुर्भाग्यवश इस अवधि म प्रकाशित उपन्यासों को एक साथ रखकर अब तक देखा नही जा सका है। पत्रिकाओं म स्फुट चर्चाएँ भले ही हुई हो पर इससे सम्बन्धित कोई गम्भीर पुस्तक अभी तक सामने नही आई है। प्रस्तुत पुस्तक म इस कमी को यथा सामर्थ्य दूर करन की चेष्टा की गइ है। आजाद भारत म विकसित जीवन व व्यक्ति चेतना को समेटकर लिखे जान वाले सभी उपन्यासों के आधार पर इस अवधि की उपन्यास यात्रा का इतिहास यहाँ दिया गया है। यात्रा के पडावों के रूप म दशकों के रूपान्तरित दशाओं का एव साथ देन की चेष्टा की गई है। रचनाकार के पीछे उपन्यास चर्चा खीचते ले जाने की अपेक्षा उपन्यास की अपनी गति को ही उसके द्वारा छोडे गए पदचिह्नों के आधार पर रेखांकित करन की चेष्टा की गई है।

ग्रन्थ दो खण्डों म संयोजित है। प्रथम खण्ड मे आजादी के बाद की भारतीय जीवन दशाओं को तथा लेखकों के रचना प्रेरकों को वर्णित किया गया है। चेतना के उस प्रस्थान बिन्दु की सच्ची तलाश की चेष्टा की गइ है जिससे आजादी के बाद का लेखक नइ दिशा म अग्रसर होता दिखाई देता है। आजाद भारत के नूतन सामाजिक एव व्यक्ति सत्यों का आकलन करते हुए इस खण्ड के अन्त म आजादी के बाद के उपन्यासों की दिशा बोध प्राप्त करन के लिए उन्हें स्वतन्त्रता पूर्व की उपन्यास यात्रा से जोडने की चेष्टा की गई है।

दूसरे खण्ड म आजादी के बाद के उपन्यास लेखकों के अपने-अपने आकाश को दशकीय कालखण्डों के आधार पर स्थापित मूल्यांकित किया गया है। छठे, सातवें तथा आठवें दशकों के उपस्थित जीवन सत्यों के परिपार्श्व मे इन काल खण्डों की उपन्यास यात्रा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के अन्त म उपन्यास की वर्तमान दशा का हल्का दिशा निर्धारण का प्रयास भी हुआ है।

पुस्तक के प्रकाशन के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी ने उदारतापूर्वक अनुदान राशि प्रदान की है। इसके लिए मैं अकादमी के अध्यक्ष डा० प्रकाश आतुर के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।

मार्च १९८३ डा० पुरुषोत्तम आसोपा

पैर तले की जमीन

प्रथम अध्याय

चेतना का प्रस्थान विन्दु

स्वतन्त्रता के पश्चात् सामने आए समस्त उपन्यासों को देखने से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि तीस वर्षों की इस अल्प अवधि में ही उपन्यास के क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। युगीन परिवेश के त्वरित बदलाव के साथ साथ इस काल के उपन्यासों में उनके सर्जक लेखकों के दृष्टिकोणों में इतना अन्तर आ गया है कि वे सभी किसी एक केन्द्रीय लेखन प्रवृत्ति अथवा क्षेत्र के अंतर्गत रखकर नहीं देखे जा सकते। उनसे सम्बन्धित किसी भी प्रकार की समरूपता का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता जैसा कि पूर्व प्रेमचन्द काल में या प्रेमचन्द काल के उपन्यासों के संदर्भ में किया जा सकता है। उपन्यास लेखन के विविध प्रेरणा स्रोतों से उद्भूत उपन्यासों को (केन्द्रीय प्रवृत्ति के अभाव में) तीन वर्गों में बाँट कर देखा जा सकता है। यह विभाजन स्थूल रचनाधर्मिता की त्रिविधामुखता और लेखकों की जीवन दृष्टि के अन्तर पर आधारित है।

इनमें से प्रथम प्रकार के उपन्यास उन लेखकों के द्वारा लिखे गए जो आजादी के पूर्व से ही लिख रहे थे। आजादी की प्राप्ति तक पर्याप्त प्रसिद्धि को प्राप्त करते हुए इन लेखकों ने आजादी के बाद अपने लेखन की सर्वोत्तम रचनाएँ प्रस्तुत कीं। एक पेशेवर खिलाड़ी की भांति इनकी लेखनी की धार और भी पैनी होकर क्रमशः निखरती चली गई। द्वितीय प्रकार के उपन्यास उन लेखकों के द्वारा प्रस्तुत किए गए जिन्होंने स्वतन्त्रता के साथ ही लिखना शुरू किया। इनमें से अधिकांश का जुड़ाव नवलेखन आंदोलन के साथ था और जिन्होंने उस विचारधारा को कविता या कहानी की ही भांति उपन्यास के क्षेत्र में भी सायास खींच लेआने का प्रयास किया। इनके मन में अपने रचना प्रेरक नवबोध का मोह अत्यंत प्रबल था और उसके चित्रण में ही इन्होंने समूचा श्रम खर्च किया। अपने चिंतन के प्रति अतिशय रागात्मक सम्पृक्ति के कारण इन्होंने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के प्रति असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करने में भी संकोच नहीं किया। कथा के स्थूल ढांचे को (जो कि प्रेमचन्द काल की विरासत के रूप में पूर्ववर्ती लेखकों को प्राप्त हुआ था।) इन्होंने पूरी तरह अस्वीकार

कर दिया। कथ्य पर स्थिरीकृत करते हुए कहानी कथानक का पुनर्गठन किया। जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता का विरोध करते हुए छायावादी ने सूक्ष्म संवेदनाओं को कविता का विषय बनाया लगभग उन्हीं भाव भूमियों में इन कथाकारों ने स्थूल के प्रति विद्रोह कर सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट जीवन दशाओं का चित्रण किया। घटनाओं का स्थान प्रमुख न दिया और इस कारण चित्रण की बारीकी एवं शिल्प की चारुता से श्रेष्ठतम स्तम्भ का प्रदर्शन इनके उपन्यासों में हुआ। यद्यपि शिल्प के प्रति अतिशय जागरूकता ने इन्हें जीवन से काट कर यौन सम्बन्धी कुठाओं, मिथ्यावयुक्त चरित्रों के चित्रण की संकीर्णता में धकेल कर रख दिया जिसमें ये चाहकर भी उबर नहीं पाए। तीसरे प्रकार के उपन्यासकार वे लेखक हैं जो छठे दशक के बाद उपन्यास लेखन में प्रवृत्त हुए। ये लोग स्वतंत्र भारत की उपज हैं अतः प्रेमचन्द उत्तरवर्ती पीढ़ी के उपन्यास आदर्शों से एवं नव लेखन की पक्षधरता को धारण करने वाले लेखकों के रचना क्रम से पूरी तरह कटकर उपन्यास लिख रहे हैं। एक ओर गुलामी की मानसिकता से ये पूरी तरह मुक्त हैं तो दूसरी ओर स्वतन्त्र भारत की उस यथार्थ स्थिति की उपज हैं जो सिर्फ इन्हीं लेखकों को असम्पृक्त संस्कार रूप में प्राप्त हुई थी। स्वतन्त्र भारत की अराजक, अव्यवस्थित, मूल्यहीन, निराशाजनक, समस्याक्रान्त जीवन स्थितियों के भोक्ता के रूप में जिन प्रामाणिक अनुभवों को इन्होंने भोग किया उसे बिना लागलपेट के उपन्यास का विषय बनाकर प्रस्तुत करने में ही इनका श्रम खर्च होता दिखाई देता है।

आजादी के बाद के तीस वर्षों के उपन्यास लेखन की यात्रा के सहयात्री होकर भी इस काल के लेखकों में (भिन्न जीवन एवं लेखन संस्कारों तथा बोध के विविध आयामों के फलस्वरूप) इन तीस वर्षों के उपन्यास साहित्य में ऊपरी समानता होते हुए भी अंतर्वर्ती असमानता के दर्शन होते हैं। इन वर्गों के लेखकों के द्वारा प्रदत्त रचनाओं की भिन्नता के आधार पर इस समूचे काल के उपन्यास साहित्य को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित कर देखा जा सकता है—

(१) पूर्व स्थापित लेखकों के उपन्यास

(२) नवलेखन धारा से जुड़े हुए उपन्यास

(३) नई पीढ़ी के लेखकों के उपन्यास

अध्ययन की सुविधा के लिए इन समस्त प्रकार के उपन्यासों को विविध दशकों में बाटकर देखा जाता है। वैसे भी आजादी के बाद में तीनों दशकों के व्यक्तियों की सामाजिक दशा में इतना अधिक अन्तर परिलक्षित होता है कि इन्हें ऊपरी विभेदों के कारण मात्र से ही अलग अलग काल खण्डों में बाटकर देखा जा सकता है। आजादी के साथ ही शुरू होने वाले छठे दशक तक जन सामान्य में आजाद होने का अहसास विचित्र प्रकार की उत्साह भावना को उत्प्रेरित कर

रहा था। नव विकास के लिए किए गए प्रयास भी नूतन भावबोध को उत्प्रेरित कर रहा था। पचवर्षीय योजनाओ की रूपरेखाएँ, सिंचाई, विद्युत, उद्योग सडक शिक्षा आदि के विकास के उपक्रम नवीन जीवन दशाओ की सृष्टि कर रहे थे। इसके साथ ही पाचवें दशक के अत तक राजनीति की सकीर्णता, भ्रष्टाचार, आपाधापी, अवसरवादिता सामाजिक निराशा का कारण बनी और साहित्य म मोहभग, निराशा, एकाकीपन आदि के त्रासद अनुभवो के रूप म प्रकट हुइ।

सातवे दशक म मँहगाई, बेकारी, जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ विपन्न सामाजिक दशा म समस्याग्रस्त व्यक्ति की कुण्ठाएँ प्रबलतम रूप म उपस्थित हुई। मोहभग का भाव अधिक प्रबल हुआ और उपन्यासो का स्वर विद्रोह, घुटन, टूटन, उत्पीडन, असन्तोष, पीढियोगत अन्तराल और मृत मूल्यो की निरथकता को चित्रित करने के रूप म वस्तुत छठे दशक के लोगो की मानसिकता का ही सवर्धित बोध कराने लगा। लेखक भोग हुए यथाथ का प्रामाणिक अभिव्यक्ति देने के लिए समष्टिगत भावनाओ को छोडकर व्यक्ति की ओर उन्मुख हुआ। या व्यक्तिवादी मा यताओ के परिपाश्व म सामाजिकता का निरूपण किया गया। व्यक्ति की खिडकी से समाज को देखा जाने लगा।

आठवें दशक तक आते आते सामाजिक जीवन और भी अधिक सश्लिष्ट हुआ, स्थितिया और भी अधिक विकराल हुइ, समस्याएँ और भी अधिक गहराइ, अर्थ की मार और भी प्रबल हुई, राजनीति और भी अधिक भ्रष्ट हुई एव मूल्यहीनता और भी अधिक बेनकाब हुई। जीवन की असगतिया, विडम्बनाएँ, निरथकताएँ अन्तर्विरोध, निराशा, पराजय अब यथाथ से भी आग बढकर अति-यथाथ बनकर उपन्यास म प्रकट हुए। तल्खी, उग्रता, आक्रोश के स्वर को व्यग्य के माध्यम से प्रकट किया जाने लगा। नूतन जीवन दशाओ के चित्रण के लिए नवीन शिल्प के सधान के प्रयास हुए और एब्सड, प्रतीकात्मक, फटेसी, व्यग्य, कथारहित, चेतनाप्रवाहशील आदि विविध रूपो वाले उपन्यास लिखे गए।

अस्तु, आजादी के बाद के तीन दशको के सामाजिक जीवन की असमानता के कारण इन दशको के उपन्यासो को भी उन्ही आधारो पर निम्नलिखित शीर्षको के अतगत तीन उपखण्डो मे बाँटकर देखा जा सकता है —

(१) छठे दशक के उपन्यास (नवबोध का काल)

(२) सातवें दशक के उपन्यास (मोहभग का काल)

(३) आठवें दशक के उपन्यास (नूतन दिशाओ के अनुसधान का काल)

चेतना का प्रस्थान बिन्दु

राजनीतिक घटनाओ का साहित्य पर प्रत्यक्ष एव तुरन्त पडने वाला प्रभाव सामान्यत दृष्टिगत नही होता। ऐसी घटनाएँ प्रत्यक्ष दबाव के रूप म लेखक के

रचना क्रम को उत्प्रेरित नहीं कर पाती। दूसरी बात यह कहना भी ठीक नहीं है कि इतिहास की घटनाएँ ही समाज को प्रभावित करें। बाकी घटनाएँ साहित्य पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाती। उनसे अंत में साहित्यकार सर्वथा अप्रभावित रहकर सम्पूर्ण स्वतंत्र रूप से ही साहित्य निर्माण में प्रवृत्त होता हो यह बात भी नहीं है। जो घटनाएँ इतनी गहराई से समूचे समाज को नया दिशा निर्देश प्रदान करती हैं उनसे साहित्य का निर्लिप्त रहना असम्भव हो सकता है। किन्तु राजनीतिक घटनाओं का यह प्रभाव सामान्य जन की प्रतिक्रियाओं की भाँति प्रत्यक्ष तथा अविचार संस्कारित सा घटनाओं के परिणाम के रूप में परिलक्षित नहीं होता। प्रहार के रूप की प्रत्यक्ष चोट न होकर साहित्य में इन घटनाओं की प्रतिक्रिया चिन्तनाश्रित तथा संतुलना की भाँति हुआ करती है। अत साहित्य पर यह प्रभाव छनकर परिणामोन्मुखी रूप में असर डालता हुआ परिलक्षित होता है।

साहित्य की सरितासम प्रवाहशील धारा के कालखण्डों का निर्धारण और राजनीतिक घटनाओं पर आधारित नहीं होता। भाषा की चित्तवृत्तियों के बदलाव के कारण साहित्य में उभर आई नूतन प्रवृत्तियों के परिवर्तन के आधार पर ही सामान्यतः इस ही कालखण्डों का निर्धारण किया जाता है। इसलिए राजनीतिक घटनाओं के आधार पर किया गया साहित्य का काल विभाजन कोई श्लाघनीय प्रयास नहीं कहा जा सकता। न इस तरह से किए गए काल विभाजन को साहित्य सापेक्ष प्रयास की संज्ञा भी दी जा सकती है। इसके बावजूद साहित्य में भी कई बार राजनीतिक घटनाओं का विशेष सम्मान दिखाई देता है। तब वे घटनाएँ साहित्य के क्षेत्र में भी मील का पत्थर बन जाती हैं। और उस रूप में तब उनको साहित्य के क्षेत्र में अस्वीकार कर सकना असंभव हो जाता है। आजादी की घटना हिन्दी साहित्य पर प्रत्यक्ष एवं दूरगामी प्रभाव स्थापित करने वाली ऐसी ही घटना है। देश की आजादी की यह बात साहित्य की अजस्रधारा के विभाजक तत्त्व के रूप में विशेष महत्त्व रखती है। इस घटना ने चिन्तन के धरातल पर ही नहीं सोच की दिशा परिवर्तन के स्तर पर भी साहित्य पर अमिट प्रभाव छोड़ा है। उससे अनेक अभिनव साहित्यिक सिद्धियाँ अर्जित की जाती हुई देखी जा सकती है। उन सबका समग्र प्रभाव अमिट भाव से विविध रूपों में देखा जा सकता है।

अननुभूत नूतन अनुभव

सदियों की गुलामी के बाद आजाद हो जाने पर सारे देशवासियों को आजाद होने का एक ऐसा नवीन अनुभव प्राप्त हुआ था जो सुचिंतित होते हुए भी अदृष्टपूर्व था। चिर संचित अभिलाषा का पूरक होने से इस अभिनव अनुभव

का व्यष्टि रूप व्यक्ति के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि समष्टि रूप म सारे देश के लिए महत्त्व रखता था। आजादी से पहले स्वतन्त्रता एक अवधारणा या एक विचार मात्र थी किन्तु आजादी के पश्चात वही प्रत्यक्ष अनुभव बनकर उपस्थित थी। दासता की बेडिया से मुक्ति, शासन की स्वच्छित प्रणाली का साकार करने के अवसर, सत्ता की सम्प्रभुता, देश के नागरिका के आत्मनिर्णय का सम्मान पहली बार साकार होकर प्रत्यक्ष उपस्थित था। इस विशिष्ट अनुभव म सारे देशवासी सम्मिलित रूप म आनन्दानुभव कर रहे थे। आह्लादजनक अनुभव की यह सहभागिता लम्बे सघर्ष, अटूट साधना, अपूर्व त्याग और अखण्ड प्रयासा के सुपरिणाम के रूप म आत्मसात् की जा सकी थी। यह अनुभव एक ऐसा जीवन्त अनुभव था जिससे प्रबुद्धचेता साहित्यकार अपने आपको काटकर अलग नही कर सकता था। इसी कारण अनायास ही आजादी का रोमाचकारी अनुभव साहित्य का प्रकपतम रचना प्रेरक बनकर उपस्थित हुआ। इस रूप म आजादी की राजनीतिक घटना भी आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वमान्य काल विभाजन बिन्दु बनकर उपस्थित हुई जिसने आजादी के इधर-उधर के साहित्य को स्पष्ट रूप से दो भागो म विभाजित करके रख दिया।

स्वतन्त्र होने के अहसास का विस्तार

आजाद हो जाने के साथ ही उद्देश्य सिद्धि के रूप म अब रचना कर्म मे उस आधारभूत जीवन दृष्टि का स्वयमेव समाप्त हो जाना स्वाभाविक था जो क्रान्ति, विरोध, दासता की पीडाकर स्थितिया के प्रस्तुतीकरण 'धन विदेश चलि जात यही अति ख्वारी' के रूप म असन्ताप पैदा कर जन मानस का अग्रेजी दासता के विरुद्ध उत्साहित करने के लिए साहित्य के माध्यम से उन्ह सस्कारित कर रहा था। छन्द के खुले बन्धा और मुक्तवाणी के प्रकाशन का निरवरोध काल उपस्थित था। जिसने चेतना की दिशा को सायास उलटकर ऊर्ध्वमुखी बना दिया था। इस कारण आजादी के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती साहित्य म इस दृष्टि से परिवर्तन आ जाना सहज सम्भाव्य था। स्वतन्त्रता का उत्तरवर्ती साहित्य दासता से मुक्ति के सुखद अनुभवों से उत्प्रेरित होकर स्वय ही अपने से पूर्ववर्ती साहित्य से अलग होकर नवीन दिशाओ म अग्रसर हो रहा था। इस रूप म स्वतन्त्रता प्राप्ति की राजनीतिक घटना का साहित्यिक दृष्टि से भी अन्यतम महत्त्व प्रकट होता है। इस कारण इस घटना का साहित्य के क्षेत्र म भी निर्णायक विभाजक रेखा के रूप म स्वीकार किया जाना स्वाभाविक है।

साहित्य के लक्ष्य की दिशा परिवर्तन का दौर

स्वतन्त्रता प्राप्ति की घटना का साहित्य के लिए भी विशेष महत्त्व इस रूप

म भी है कि आजाद होने के साथ ही एक विशिष्ट दिशा मे सोचे जा रहे सोच का अन्त हो गया। जब तक देश गुलाम था तब तक जो विचार राजनीतिक क्रिया कलापो का मूल उत्प्रेरक था वही समानान्तर भाव से साहित्य का भी दिशा निदेशक था। गुलाम देश की राजनीति स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सक्रिय थी। सारे प्रयासो की लक्ष्योन्मुखता आजादी की ओर ही अभिमुख थी। सारे क्रिया कलाप, सारी योजनाएँ, सारी चेष्टाएँ एव सारे प्रयासो की रणनीति भी उसी एक लक्ष्य को लेकर ही निर्धारित थी। गुलामी का तीव्र दशकारी अनुभव ऐसा चश्मा था जिसके रग म समूची स्थितियाँ अनुरजित दृष्टिगत होती थी। सारे दाषा का हतु भी वही गुलामी थी सारी समस्याओ का कारण भी वही थी। किन्तु आजाद हो जाने से एक दिन म ही सारे सोच की इतिश्री हो गई। लक्ष्यसिद्धि के साथ ही आजादी के लिए की जाने वाली साधना की, साधना के उपादानो की, साधना के सोपानो की, क्रान्ति की आजाद होने की कल्पना की आवश्यकता अब नही रही। इन सबके होने का औचित्य न रहने से उनसे सम्बन्धित चिन्तन यकायक समाप्त हो गया और उनके स्थान पर स्वतन्त्रता विषयक नवीन चिन्तन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अब देशवासियो के सोच का आधार सृजन, नव निर्माण, विकास, प्रगति के विविध आयाम बने। इस कारण आजादी के साथ ही नागरिको के सोच म रूपान्तरण हुआ। परतन्त्रता से मुक्ति के रूप म कार्यसिद्धि के कारण नूतन चिन्तन का समारम्भ हुआ। निस्सन्देह चिन्तन की दिशा का यह पक्षान्तर साहित्य के लिए भी अन्यतम महत्त्व रखने वाला बिन्दु सिद्ध हुआ।

द्वितीय अध्याय

परिवेश का सत्य

आजादी के बाद के समग्र साहित्य लेखन की मूल ऊर्जा वस्तुत सामयिक युग की बदलती हुई परिस्थितिया है। युग परिवतन की प्रक्रिया जिस तजी स इस कालखण्ड म विकसित हुई उस तेजी से पहले कभी नही दिखाई दी। गति, तेजी और परिवतन आज के अति परिचित सत्य बनकर सामन आए। आजाद होने के बाद विकास और प्रगति के विपुल कायक्रमा के समारम्भ के लिए पचवर्षीय योजनाओ न विज्ञान, कृषि, शिक्षा, तकनीक सभी क्षेत्रो म चहुँमुखी विकास के कायक्रम प्रस्तुत किए। सिंचाई की परियोजनाओ के तहत बाध, नहर, विद्युत आदि के प्रति सजगता शुरू हुई। उद्योग धधो न तेजी से विकास पाया। कल-कारखानो के लिए इस्पात, सीमेंट, कोयला सभी क्षेत्रो म विस्तार हुआ। सडको म सुदूर प्रदेशो को जोडने का उपक्रम का समारम्भ हुआ जिससे युगो से अपनी सीमित दुनिया म जीवन जीने वाले सुदूर गावो, प्राकृतिक सम्पदा स भर पूर अचलो का बाह्य जगत से सम्पक हुआ। यातायात एव सचार के साधनो के विस्तार के फलस्वरूप दूरियाँ घटकर सिमिट गई। जीवन के दर्नदिन ढर्रे म व्यतिक्रम आया चहुँ ओर शहरीकरण की प्रवत्ति पनपी। इन सबके कारण आजादी के बाद के भारतीय व्यक्ति के जीवन क्रम मे, उसके परिवेश म बदलाव आया अथच उसकी मानसिकता मे भी तीव्र गति स रूपान्तरण आया। यह बदलाव ही उपन्यास की कथा का यथाथ बनकर उपस्थित हुआ। परिवेश का यह परिवतन सामाजिक एव वयक्तिक स्तर पर भिन्न भिन्न रूपो म सामन आया।

नूतन सामाजिक सत्य

गुलाम भारत के व्यक्ति की मानसिकता को उदबुद्ध करने वाला सामाजिक सत्य स्वय आजादी का भाव ही था। गुलामी, परतन्त्रता एव तज्जन्य विवशता के यकायक समाप्त हो जान पर अब समाज में एतदविषयक सामूहिक आतक और भय का भाव समाप्त हो गया। पराधीनता क समाप्त हो जान मे स्वाधीन चिंतन

को प्रोत्साहन मिला। राष्ट्रीय स्तर पर स्थूल रूप में जो बदली हुई सामाजिक स्थितियाँ सामने आईं उनको इन बिन्दुओं में देखा जा सकता है —

शहरीकरण की प्रवृत्ति का तेजी से विकास हुआ। अभावग्रस्त गाँवों को छोड़कर रोजी की स्थाई आशा में शहरों का आकर्षण बढ़ने लगा। गाँव क्रमशः कस्बों में, कस्बे छोटे नगरों में, छोटे नगर बड़े नगरों में और महानगरों में परिणत होने लगे। इससे अब तक अननुभूत अनेक अभिनव समस्याएँ उत्पन्न हुई। आवास की समस्या तेजी से विकराल रूप ग्रहण कर गई। भीड़तन्त्र अपराध भावना, हिंसा, आतंक, आन्दोलन बेकारी, प्रतिस्पर्द्धा, प्रतिद्वन्द्विता, यातायात की समस्याएँ भागमभाग आपाधापी, बेगानापन अजनबीयत आदि अनेक नई-नई बातें जीवन का अनिवार्य अंग बनकर सामने आई। राजनीति के विस्तार के साथ ही कूट नीतिक षड्यन्त्र, भ्रष्टाचारी, चमचेबाजी, मौकापरस्ती, आन्दोलन, घेराव, हड़ताल और इनके दबाव समाज के दैनंदिन प्रकरण बनकर सामने आए। सेक्स को लेकर बढ़ता आकर्षण और घटती स्थिरता सामने आई जिसमें बलात्कार, हत्या, अपहरण, विवाहजनित अनमेलता, तलाक, दहेज आदि बातें व्यक्ति का अतिपरिचित सत्य बनी। फैशन के विस्फोट ने विज्ञापनबाजी पर आरूढ़ होकर जनमानस को हलचलमय बना दिया। जीवनक्रम का तेजी से पाश्चात्यीकरण हुआ। स्थिर एवं आत्मतोषी जीवनक्रम की जगह गतिशील, असन्तोषी, महत्त्वाकांक्षी जीवनक्रम शुरू हुआ। फिल्म, रेडियो, टी० वी० ने उस फैशन की चिन्गारी को तीव्र हवा के थपेड़े देकर और भी सुलगा दिया। नारी की स्वतन्त्रता अब इस लोक में वासनान्धता बनकर उदित हुई। व्यक्ति का जीवन स्वावलम्बी न रहकर परमुखापेक्षी और पराधीन हुआ। होटल, रेस्तरां, कबरे, नाटक अखबार, विज्ञापन चमक-दमक, भड़कीले प्रसंग ऊँची, इमारतें, अवैध अधिग्रहण, गन्दी बस्तियाँ शहरों की पहिचान बनकर सामने आई। इनसे सामुहिकता के स्तर पर सामाजिक आचरण में बदलाव आया।

अकाल, दुष्काल, अतिवृष्टि, बाढ़, तूफान आदि प्राकृतिक विपदाओं के साथ साथ घटनाएँ दुर्घटनाएँ, लूट खसोट, साम्प्रदायिक दंगे, आन्दोलन, तोड़फोड़ आदि से जीवन घटनाओं का स्तूप होकर रह गया। जनसंख्या में तेजी से विस्तार के कारण बेकारी बेरोजगारी अशिक्षा, रुग्णता, अभाव, गरीबी भी तेजी से पनपकर सामाजिक सत्य बन गई। ऊपर से सत्तामुखी राजनीति के वितण्डावाद आम चुनावों की भगदड़, खोखलापन, धुरीहीनता ने भी उस अस्थिरता को और भी विकसित किया।

पंचवर्षीय योजना ने आर्थिक विकास के विपुल कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया। जिससे नए नए कल कारखानों का विकास हुआ। उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए पूंजी पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ा। किन्तु राष्ट्रीयकरण के द्वारा आलस्य,

राजनीति, स्वार्थ, कटुता, हड़ताल, तालाबन्दी, छँटनी आदि की नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। हरित क्रान्ति, श्वेतक्रान्ति की बात कागजों में ही रह गई। अफसरशाही, लालफीताशाही के पनपने से ये कार्यक्रम फिसफिसाकर रह गए। अंचलों की उन्नति भी शहरों पर अधिकाधिक निर्भर हुई और अंचलों का बदलाव भी अपनी जमीन की आवश्यकता के अनुरूप न होकर पाश्चात्य जीवनक्रम के आधार पर होने लगा।

प्रतिद्वन्द्विता प्रतिस्पर्धा का नया दौर शुरू हुआ जिससे स्वार्थ का घृणित तम रूप सामने आया। व्यक्ति की निजता ही उसके सोच का आधार बनी जिससे परम्परित मूल्यों के प्रति विरोध का भाव शुरू हुआ। मूल्यों का अस्वीकार सारे भारतीय सामाजिक ढांचे को बदल रहा था। मूल्यहीनता की विभीषिका के कारण संयुक्त परिवार टूट गए, मानवीय अंश तिरोहित हो गए, सामूहिकता का भाव खण्डित हो गया और उदार मदाशयता समाप्त होकर घृणित स्वार्थ-भावना तेजी से सामने आई। इस कारण मानवीय सम्बन्धों में बदलाव आया, रिश्तों में कृत्रिमता आई तनाव कटुता ईर्ष्या, हिंसा, पीढ़ीगत अन्तराल, उपेक्षा, अब सम्बन्धों के आधार बने।

राष्ट्रीय जीवन घटनाओं का अटूट सिलसिला बन गया। इन तीस वर्षों के छोटे से इतिहास में ही आजादी की हिंसा, बँटवारे के दुष्प्रभाव, १९६१ में चीन से युद्ध १९६५ व १९७१ में पाकिस्तान से युद्ध, बंगलादेश का निर्माण, कश्मीर समस्या, भाषा समस्या, प्रान्तीय तनाव, साम्प्रदायिक दंगे, आपात काल, जनता राज, पोकरण में अणु विस्फोट, आर्यभट्ट आदि अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं जिन्होंने अप्रत्यक्ष मुद्रास्फीति, मँहगाई, वस्तुओं के अभाव के रूप में समाज को प्रभावित किया। राशन और क्यू व्यक्ति के जीवन के अनिवार्य अंग बने तो काले धन्धे, जमाखोरी, मिलावट, तस्करी के दोष समाज के सत्य बने।

राष्ट्रीय स्तर पर नेताओं की घृणित आचरणगतता ने मोहभंग, अनास्था, अविश्वास, निराशा, हताशा, पराजय को पनपाया। व्यक्तिपूजा तानाशाही अवसरवादिता, दलबदल, रलियाँ, आयाराम गयाराम, जोड़-तोड़, राष्ट्रीय चरित्र की धूमिल छवि को ही व्यक्ति तक ला सका। इस नूतन सामाजिक दशा ने आज के व्यक्ति चरित्र को दूर तक प्रभावित किया।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आए हुए तीव्र बदलावों से जन जीवन प्रभावित हुआ। दो ध्रुवों में बँटनी सत्ताएँ, विकसित एवं विकासशील देशों के बीच के अंतर, तेल की राजनीति, हथियारों की होड़, शीतयुद्ध, घटती दूरियाँ-बढ़ते तनाव, चाँद पर विजय, टेस्ट ट्यूब बेबी, दूसरे विश्व युद्ध के दुष्परिणाम आदि से देशों के आपसी सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। दक्षिणी अफ्रीका युगाण्डा, अफगानिस्तान दक्षिणी एशिया, वियतनाम कम्पूचिया बर्लिन, बंगला

देश, आयरलैंड, इसराइल आदि पर युद्ध एव तनाव के छिटपुट बादल मँडराए और विश्व म देशा के सम्बन्ध बनते बिगडते रह। विदेशी व्यापार एव यातायात के विस्तार न भौगोलिक सीमाआ को तोडकर नई अभिलाषाआ क स्रोत खोल आयात के लाइसैंस, तस्करी, विदेशा म मिलन वाली नौकरियाँ, आप्रजन की समस्या, प्रतिभा पलायन आदि से सामाजिक जीवन म कई परिवतन आए।

इस प्रकार आजादी स पहिले के समाज के सत्य अब झूठे पड गए और नित्य नूतनता नवीनता के साथ नए-नए सत्य सामन आत रह। मन्यिा व सस्कार एव जीवन मूल्य अब अथहीन और बेमानी सिद्ध हो गए। त्याग, सेवा, सहिष्णुता की आदश भावना तिरोहित हो गई और सामुहिकता को तोडने वाली स्वाथाश्रित घृणित यथाथ भावना का तीव्रता से विस्तार हुआ। इस नवान्ति सामाजिक सत्य न व्यक्ति आचरण को इतना बदल दिया कि अब उसके आचरण को आजादी से पहिले के व्यक्ति के साथ जोडकर नही देखा जा सकता।

व्यक्ति का नूतन सत्य

आजादी के बाद का व्यक्ति बदली हुई परिस्थितियो म तीव्र गति स बदलन के लिए बाध्य हुआ। उसके सोच की दिशा परिवर्तित हुई। वह समष्टि चेतना का सम्वाहक बना न रहकर घोरतम व्यक्तिनिष्ठता का सवाहक बना। रिश्ता को रक्त सम्ब ध के आधार पर ओढन की जगह स्वाथ के आधार पर सोचन लगा। उसके सोचने के तरीके म अर्थ मूल्याकन का आधार बना। उससे इतर दष्टि से सम्बन्धो मे ह्रास हुआ। समस्याक्रान्त व्यक्ति के लिए अब जीवन म अधिकाधिक सश्लिष्टता का विस्तार हुआ। भीड म एकाकीपन की नासदायक दशा उसकी पहिचान बनी। इस दशा मे सदर्भों से कटकर वह अपने लिए छोटे छोटे सुखा का अनुसधाता बना। परिवार के दायित्वो को पूरा कर पाने के लिए नारी ने भी नौकरियाँ शुरू की। लेकिन आर्थिक स्वावलम्बिता न अब उसके अह को भी उकसाया। अत दाम्पत्य सम्बन्धो मे तनाव पदा हुए। काम कुण्ठाए विभीषिका बन गई। दमित आकाक्षाएँ घृणिततम रूपो म सामन आई। समाज म व्यक्ति की अपनी पहिचान भी एक समस्या बनी। अजनबीयत व भीड का अग बने रहने की नियति को ढोते चले जान की अपेक्षा व्यक्ति म उसके प्रति विद्रोह की भावना भर गई। असन्तोष कटुता, ईर्ष्या, भय, आतक समझौतापरस्ती प्रबल अह भावना हीनताएँ, कुण्ठाएँ, ग्रन्थियाँ, आत्मप्रचार उसके चरित्र के अग बने। और महत्वाकाक्षाओ के टूटने की हताशा के कारण घुटन, निराशा तनाव उसके व्यक्ति आचरण को रूपायित करने वाले तत्त्व बने। एक आर उसे परम्परित भारतीय चिंतन सस्कृति और सस्कार बाधे हुए थे तो दूसरी आर पाश्चात्य जीवनक्रम का मोह आधुनिकता का आकषण उसे पूरी ताकत स अपनी ओर

खीच रहा था। इस कारण सस्कारा और आधुनिकता क अदम्य द्वन्द्व के बीच उसकी मानसिकता का विस्तार हुआ। उसका यक्ति रूप इन दोना विरोधी दिशाआ म अग्रसर होन की बाध्यता क कारण द्विधाग्रस्त हुआ। खण्डित चरित्र वाला एसा व्यक्ति दोहरे आदर्शों, मापदण्डो, मूल्या से परिचालित होकर दोहरी आचरणगतता का प्राप्त हुआ। न वह पूरी तरह परम्परा विनिर्मुक्त ही हो पाया और न वह पूरी तरह आधुनिकता को ही आत्मसात कर पाया।

इस प्रकार सामाजिकता के बदले हुए परिदृश्य ने व्यक्ति की आचरणगतता का उसके सोच को सोच के आधारा को, चिन्तन की दिशाआ का बदलन म सहायता दी। इसके फलस्वरूप आजादी के बाद का व्यक्ति अपने पूवजा की अपेक्षा पर्याप्त बदले हुए रूप म निर्मित हुआ। बोध के नूतन स्वरूप उसन आत्मसात किए और मूल्या क पुरान आदर्शों को उसन पूरी तरह नकार दिया। निस्सन्देह आजादी के बाद के उपन्यासा को इस बदली हुई सामाजिकता ने तथा बदले हुए व्यक्ति न अत्यत प्रभावित किया। इस युग के यथाथ से सच्चे अर्थों म साक्षात्कार करन क लिए आजादी के बाद का उपन्यास लखक पूरी निष्ठा स प्रयत्नशील हुआ।

तृतीय अध्याय

परम्परा के सूत्र

आजादी के बाद का हिन्दी उपन्यास स्वतन्त्र दिशाओं में अग्रसर हुआ। उसकी गतिशीलता आत्म प्रेरित विचारधाराओं से परिचालित होने के कारण वैयक्तिक दृष्टिकोण पर अधिक टिकी हुई है। उपन्यास के पर तले की जमीन आजादी के पहिले लिखे गए उपन्यास से सर्वथा असम्पृक्त होकर अपने निजी आकाश के अनुसंधान की ओर उन्मुख हुई। फिर भी इस काल के उपन्यास का पूरी तरह परम्परा विनिर्मुक्त भाव से देखा नहीं जा सकता। बल्कि प्रेमचन्दकाल में जो भाव उपन्यास लेखन के लिए संस्कारित हुए एवं उनकी स्थूलता में विद्रोह कर जो नवीन दिशाएँ इस दृष्टि से स्थापित हुई उन्हीं का आजादी के पश्चात अधिक विकास हुआ। परम्परा की थाती पर ही इस काल का उपन्यास समाधारित हुआ। अतः परम्परा के सूत्र की अविच्छिन्न तद्गतता का अध्ययन आजादी के परवर्ती उपन्यासों के सच्चे मूल्यांकन के लिए अनिवार्य है।

प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास यात्रा के मील का पत्थर

हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द का योगदान इतना अन्यतम महत्त्व रखता है कि समूचे हिन्दी उपन्यास के मूल्यांकन का ध्रुवीकरण प्रेमचन्द जी के कृतित्व को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। प्रेमचन्द जी ने ही अपने प्रयासों से हिन्दी उपन्यास को उसकी वास्तविक जमीन पर अवस्थित किया। उनसे पहिले यद्यपि न केवल उपन्यास लेखन की परम्परा का सूत्रपात हो चुका था और हिन्दी उपन्यास ने विपुल लोकप्रियता अर्जित कर अपने स्वरूप की पहिचान भी बना ली थी (देवकीनन्दन खत्री जैसे समर्थ लेखकों ने हिन्दी उपन्यास के लिए एक विशाल पाठक वर्ग भी पैदा कर दिया था) तथापि प्रेमचन्द से पहिले तक हिन्दी उपन्यास का शुद्ध साहित्यिक स्वरूप अनिर्मित ही रहा। अविश्वसनीयता, कल्पना जगत की अतिरंजना घटना बहुलता, मनोरंजन की लक्ष्योन्मुखता के कारण उनसे पहिले के जासूसी तिलिस्मी, ऐय्यारी, रोमांटिक चेतना के उपन्यास

किस्सागोई, हल्के फुल्केपन से ही आक्रान्त रहे। उनके पात्र निर्जीव कठपुतले और कथानक अपरिपक्वता लिए हुए रहे। इस कारण प्रेमचन्द से पहिले तक के उपन्यासों में उस गरिमा का अभाव रहा जिसे उपन्यासों में होना अनिवार्य है और जिसके बिना कोई भी रचना सच्चे अर्थों में उपन्यास कहलाने का अधिकार भी प्राप्त नही कर पाती।

प्रेमचन्द ने उदित होकर हिन्दी उपन्यास को न केवल सही दिशा निर्देश दिया अपितु उसे अविश्वसनीयता से दूर खींचकर विश्वास का आधार प्रदान किया। 'प्रेम चुहल राग रग, रहस्य रोमाञ्च के चटकीले रगों को चित्रित किए जाने की विदिशा से दूर कर उन्होंने उपन्यास को यथार्थ जगत से जोडने का महनीय प्रयास किया। मनोरंजन मात्र की उद्देश्यपरकता से दूर कर उसे गम्भीर प्रयासों की सुदृढ आधारशिला प्रदान की। कल्पना जगत के घटना प्रसगों को कथा में समेटने की जगह सामयिक सामाजिक समस्याओं की पहिचान का कथा-प्रयास शुरू किया। इस कारण हिन्दी उपन्यासों में कपोल कल्पित घटना प्रसगों का वर्चस्व समाप्त हुआ और उनके स्थान पर सामाजिकता का सवादी स्वर अपने समस्त आयामों के साथ समुपस्थित हुआ।

१९१८ में प्रकाशित सेवा सदन हिन्दी का प्रथम वास्तविक उपन्यास होने का गौरव प्राप्त किए हुए है। इसके प्रकाशन के साथ ही हिन्दी में उपन्यास लेखन की गम्भीरता का सूत्रपात हुआ। प्रेमचन्द ने यों अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का चित्रण कर सामाजिक यथार्थ को कला के प्राणतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रगभूमि, जैसे उपन्यास एक ओर ग्रामीण जीवन की समस्याओं को पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे थे तो दूसरी ओर सेवा सदन, निर्मला, वरदान, गबन जैसे उपन्यास शहरी मध्यवर्गीय एवं निम्नमध्यवर्गीय जीवन में व्यक्ति की पीडा का चित्रण कर रहे थे। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान में आकर ये दोनो धाराएँ एक साथ एक ही उपन्यास में समाहित हुई।

प्रेमचन्द के योगदान से हिन्दी उपन्यास पर्याप्त मात्रा में लाभान्वित हुआ। किन्तु १९३० तक आते-आते पाठक स्थूल सामाजिक समस्यात्मकता से ऊबने लगे। गाधीवादी आदर्श भावना से परिचालित होकर दिए गए सुधारवाद के सकेत अब प्रभावहीन होने लगे थे। समस्याओं का चित्रण मात्र ही उपन्यास का चरम प्रतिपाद्य हो जाने से उनके प्रति पाठकों का रागात्मक जुडाव अब कम होने लगा। सामाजिकता का यह स्थूल स्वरूप समस्याग्रस्त वर्ग चरित्रों को ही विकास के अवसर दे रहा था। उनमें अनुपस्थित व्यक्ति चेतना पाठकीय अपेक्षाओं को पूर्ण कर उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पा रही थी। प्रेमचन्द के उपन्यासों के किसान, मजदूर केवल नाम या स्थितियों की भिन्नता के कारण भिन्नता प्रदर्शित करते, अलग

391
1983
Purchased with the assistance ... under the ... ance to volun... ... in the yea 391

अलग उपन्यासा म ऐसे पात्र व्यक्ति रूप म प्राय एक समान थ। होरी जसा सशक्त पात्र भी व्यक्ति चेतना को आत्मसात नही कर पाया। अपनी समस्त चेष्टाओ के मूल म वह एक व्यक्ति की निजता का परिचय न देकर समूचे कषक वग की वग भावना को ही अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा था। पूववर्ती उपन्यासा से भिन होकर भी प्रेमचन्द का शिल्प किस्सागोई के ही निकट अवस्थित था। समस्याओ को अधिकाधिक स्पष्ट करने की चेष्टा म प्रेमचन्द जी के उपन्यासो का व्यक्ति गौण होकर रह गया जिसका पाठका पर अब ऋणात्मक प्रभाव पडने लगा। इस काल का छायावादी कवि जहा स्थूल के प्रति विद्रोह कर सूक्ष्म के चित्रण म सचेष्ट हो रहा था वहां प्रेमचन्द जी की यह स्थूलता अब पाठका को अधिक समय तक आकर्षित कर बाधे नही रख पा रही थी।

बदलाव के सकेत

यथाथ पर निरतिशय भाव से टिके रहन की माग अन्ततोगत्वा काल्पनिक आन्शवाद स विरक्ति का हेतु बनी। प्रारम्भ म प्रेमचन्द जी जिस प्रकार सदना, आश्रमो के रूप म समस्याओ का निराकरण करने की प्रेरणा लेकर चले थे उस पर केवल कल्पना के आधार पर टिके रह पाना सम्भव न रहा। १६३० के आस पास से ही प्रेमचन्द जी की लीक से हटने के सकेत मिलन लगे थे। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अति यथाथवाद की ओर उन्मुख हो रहे थे। उनके 'दिल्ली का दलाल' (१६२७) चन्द हसीना के खुतूत (१६२६), 'बुधुआ की बेटी' (१६२६) आदि उपन्यास निम्नवर्गीय जीवन के यथाथ का नग्नता, अश्लीलता के साथ चित्रण कर रहे थे। इस दृष्टि से विद्रोह का अय सम्वादी स्वर प्रसाद जी के द्वारा मुखरित किया गया। उनका 'ककाल (१६२६) धार्मिक न्याग और नतिकता क खोखलेपन को अनावरित करते हुए युग के वास्तविक सत्य का प्रकट कर रहा था। उधर चतुरसेन शास्त्री भी प्रबल सामाजिक यथाथ की पक्षधरता लेकर प्रेमचन्द परम्परा के प्रति अनास्था का प्रकट कर रहे थे। इलाचन्द्र जोशी के 'लज्जा' (१६२८) 'घृणामयी' (१६२६) वस्तु के नवीन स्वरूप को प्राथमिकता दत हुए शिल्प परिवतन का सकेत द रह थे। जनन्द्र का परख (१६२६) व भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा (१६३३) स्थूल सामाजिकता स पलायन कर व्यक्ति, की अन्तश्चेतना एव उसके आन्तरिक संसार का उपयोग का विषय बना रह थ।

१६३० तक आन आत स्वय प्रेमचन्द जी भी गाँधीवादी आदशवाद स मुक्त होकर यथाथ चित्रण की आर उन्मुख होने लग थ। उनका 'गबन' (१६३३) मध्यवग क रीढ़हीन नायक की जीवन नियति के रूप म लेखक के समाधानकारी रूप म उन्तार का सकेत द रहा था। व भी अपना आर से पाठकों तक समस्याओ क समाधानो का प्रक्षेपण करन की जगह कथ्य क सम्प्रेषण के लिए युग जीवन क

यथाथ की ओर अधिक प्रभविष्णु बनाने का उपक्रम करने लग थ। जिसकी चरम परिणति गोदान (१६३६) म चित्रित जीवन क ग्रामीण एव शहरी जीवन क उभयपक्षीय यथाथ चित्रण के रूप म दृष्टिगत होती है।

प्रमचन्दोत्तर काल राहा के अन्वेषण का काल

प्रेमचन्द के योगदान म हिन्दी उपन्यास सच्चे अर्थों म उपन्यास का स्वरूप ग्रहण कर सका। उपन्यासा म किस्सागोई स प्रेरित सस्ते मनोरजन की प्रवत्ति का ह्रास हुआ। उपन्यास लेखन एक गम्भीर रचना प्रयास बन पाया उसम कथा क माध्यम से जीवन क यथाथ क आकलन का प्रयास अधिक महत्त्व पूर्ण बन सका। पात्र योजना म व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता या वचस्व हुआ और उन पर लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप का भाव तिरोहित होन लगा। घटनाओ क रोमाचक सकलना के स्थान पर कथा म कथ्य की प्रेषणीयता की चेष्टाएँ साकार होन लगी। इस कारण कथा को जीवन सम्पृक्ति को प्रबलतम आधार प्रदान करने के लिए अब उन्हे जीवन के वृहत्तर क्षेत्रो स जोड कर देखा जान लगा। इसक फलस्वरूप हिन्दी उपन्यास का तजी स बहुमुखी विकास होन लगा। उनम म अधिकाश उपन्यास प्रेमचन्द परम्परा स अलग हटकर लिखे जा रहे थे। उनम नूतन दिशाओ म अभिनव रचना शिल्प के साथ अग्रसर होन की भावना प्रबल थी। स्थूल कथानको से अलग होकर जीवन के सश्लिष्टतम, सूक्ष्म वायवीय पहलुओ को कथा का अग बनाया जाने लगा। कथा की प्रत्यक्ष समाज सापेक्षता समाप्त हुई और उसके स्थान पर उपन्यासो म व्यक्ति की प्राण प्रतिष्ठा का दौर शुरू हुआ। फलत व्यक्ति चेतना पर कथा का ध्रुवीकरण कर लिख जाने वाले व्यक्तिवादी उपन्यास तेजी स लिखे जान लग। पात्रा की बहिर्मुखता तिरोहित होन लगी और उनका अपना आन्तरिक ससार सामने आने लगा। वग भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले साचे म गढे हुए चरित्रा की या महिमामण्डित औदात्ययुक्त भव्य चरित्रो की सृष्टि की प्रवत्ति समाप्तप्राय हो गई। व्यक्ति निर्माण म मनोविश्लेषण को समुचित स्थान दिया जान लगा। सामाजिक समस्याओ भर को उपन्यास का विषय बनाए जाने के स्थान पर मनोविज्ञान प्रगतिशील चिंतन व्यक्तिवादी भावना, धम संस्कृति राजनीति आदि स प्रेरणा लेकर कथा के नूतन क्षितिजो का अनुसधान क समारम्भ हुआ।

१६३० स लेकर १६३६ तक के सक्रान्तिकालीन दशाओ को पार कर हिन्दी उपन्यास जिस भावभूमि की ओर सन्नमित हुआ उसके मूल म प्रेमचन्द परम्परा के प्रति विद्रोह का भाव अधिक था। उपन्यास हल्की फुल्की विधा मात्र न रहकर मानव जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली गम्भीर विधा बनकर उपस्थित हुआ। कथा की सहभागिता अतिनाटकीय प्रसगा स युक्त घटनाओ स जुडी न रहकर

पूर्ण उपन्यास एवं चित्रलेखा, चेतन जैसे शाश्वत मूल्य वाले औपन्यासिक पात्र प्रदान किए। इस धारा में लेखकों ने भविष्य की आशाओं को भी सर्जित किया।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

प्रेमचन्द परम्परा को खुली चुनौती देते हुए इस काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखन का श्रीगणेश हुआ। कथा की सामाजिक सदभता से अलग हटकर इस प्रकार के उपन्यासों में पात्रों के भीतरी संसार को कथा का आधार बनाया गया। पात्रों के अंतर्जगत में प्रविष्ट होकर व्यक्ति आचरण के नियामक पहलुओं का उद्घाटन इस कोटि के उपन्यासों का चरम प्रतिपाद्य बना। और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से स्वीकृत मूल प्रेरकों, कुण्ठाओं, ग्रन्थियों, अहं भावना के संदर्भ में व्यक्ति के बाह्य आचरण का विश्लेषण किया जाने लगा। व्यक्ति आचरण की यह व्याख्या ही इस कोटि के उपन्यासों का चरम प्रतिपाद्य बनी। इस प्रकार गुम्फित जीवन दशाओं के भोक्ता व्यक्ति की मानसिकता, उसके अन्तर्जगत की रहस्यमयी छवि, असामान्य स्थितियों में उभर आई असामान्य आचरणगतता, मन के भीतर के द्वैतभाव, तनावग्रस्त जीवन में प्रकट होने वाली असंगतियाँ इत्यादि इस कोटि के उपन्यासों के विषय बनकर उपस्थित हुए। मनोजगत में सम्भिलित कथा सृष्टियाँ लघुकाय होकर भी पाठकीय जिज्ञासाओं के आकर्षण का कारण बनीं। जो ऊब प्रेमचन्दकालीन स्थूलता के कारण उपन्यासों में उभर आई थी उसे इन वायवीय आधारों पर अवस्थित कथा सृष्टियों ने छाँट कर यकायक दूर कर दिया।

जैनेन्द्रकुमार ने सर्वप्रथम मनोविज्ञान के आधार पर कथा सृष्टियाँ प्रदान कर इस दृष्टि से पहल की। उनके द्वारा प्रवर्तित नूतन दिशा पर बाद में समस्त हिन्दी उपन्यास समाधारित हुआ। इनके उपन्यासों के कारण ही प्रेमचन्दोत्तरकाल में व्यक्तिवादी उपन्यासों का दौर शुरू हुआ। परख (१९२९) सुनीता (१९३५), त्यागपत्र (१९३७) कल्याणी (१९४३) आदि आजादी के पहिले ही स्थापित होकर पर्याप्त यशोपार्जन कर चुके थे। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में व्यक्ति चेतना को साकार करने के लिए मनोविश्लेषण का सहारा लिया। किन्तु इलाचन्द्र जोशी ने चरित्र निर्माण में सहायक के रूप में मनोविज्ञान को न अपनाकर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर उपन्यास लिखे। इसलिए इनके उपन्यास मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को पाठकों तक पहुँचाने के साधन मात्र बनकर रह गए। लज्जा (१९२८), घृणामयी (१९२९), संन्यासी (१९४०), पर्दे की रानी (१९४१), प्रेत और छाया (१९४३), निर्वासित (१९४५) आदि उपन्यास स्वतन्त्रता से पूर्व ही लिखे जा चुके थे और पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर चुके

थे। इस प्रकार इस कोटि के उपन्यासकारों ने मनोजगत को उपन्यास का विषय बनाकर एक सर्वथा अभिनव सामग्री प्रदान की। स्थूलता से अलग हटकर उपन्यास पहली बार सूक्ष्म भावों, जीवन दशाओं की ओर उन्मुख हुआ इस कारण इस वर्ग का लेखन अधिक लोकप्रिय हुआ। सुनीता, त्यागपत्र, संन्यासी जैसी श्रेष्ठ रचनाएँ भी इनके द्वारा प्रस्तुत की गई।

व्यक्तिवादी उपन्यास

मनोवैज्ञानिक कथानकों के निर्माता उपन्यासकारों ने व्यक्ति चेतना को उपन्यास का विषय बनाकर भी सामाजिक सत्य के संदर्भ में व्यक्ति आचरण का विश्लेषण किया किन्तु प्रेमचन्द के पश्चात शुद्ध व्यक्तिवादी उपन्यास भी तेजी से लिखे जाने लगे। इनके कथाकारों की संरचना सामाजिकता की अभिव्यक्ति की ओर न होकर व्यक्ति के सत्य का सामने खींच ले आने की ओर अधिक रहती है। ऐसे उपन्यासों में पात्रों का वैयक्तिक स्वरूप इतना सम्माननीय हो जाता है कि कथा का रचाव उसी को केन्द्र में रखकर किया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किए गए व्यक्ति के प्रयास, मूल्यों को स्वीकारने-अस्वीकारने की बात इनमें अत्यधिक महत्त्व प्राप्त कर गई। व्यक्ति की निजता बहुआयामी स्थितियों से परिपुष्ट होकर प्रत्यक्ष हुई। शेखर : एक जीवनी (दो भाग १९४१, १९४३) के माध्यम से अज्ञेय ने ऐसे व्यक्ति चरित्रों को कथा के केन्द्र में रखकर चित्रित करना शुरू किया। अभिनव शिल्प से मण्डित इन उपन्यासों में बौद्धिकता, भावाकुलता के स्थान पर रैशनेलाईज करने का प्रयास, घटनाओं के स्थान पर स्थितियाँ आदि बातों से ऐसे उपन्यास प्रेमचन्द परम्परा से अलग हटकर एक सर्वथा नवीन दिशा का संकेत कर रहे थे।

प्रगतिशील चिंतन पर आधारित उपन्यास

प्रथम विश्वयुद्ध के दुष्परिणामों के रूप में सारे विश्व में मँहगाई, आर्थिक मन्दी का जो दौर शुरू हुआ उसके कारण कार्ल मार्क्स की विचारधारा का चहुँ ओर तीव्र विस्तार हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजी के असमान वितरण से सामाजिक वर्गों का विस्तार हुआ और निम्नवर्ग के लिए जीवन के अनिवार्य साधनों का भी अभाव जब प्रबलतम रूप में उपस्थित हुआ। पूँजी का केन्द्रीयकरण होने से मानव मानव के बीच असमानता का विस्तार अधिक हुआ। उसके विरुद्ध दलितों के प्रति किए जाने वाले शोषण एवं दमन का प्रतिकार करने के लिए अब निम्नवर्ग के मनुष्यों को संगठित करने की आवश्यकता पर बल देते हुए मानवीय अधिकारों की मांग सामाजिक समता के आधार पर की जाने लगी। हिन्दी के उपन्यासकार ने भी इस विचारधारा से प्रेरित होकर उपन्यास लेखन की परम्परा

का सूत्रपात किया। स्वयं प्रेमचन्द जी भी अपनी अन्तिम रचनाओं में गांधीवादी आदर्शवाद को छोड़कर प्रगतिशील चिन्तन की पक्षधरता को प्रकट करने लगे थे। इसी प्रवृत्ति को यशपाल ने अपने उपन्यासों के माध्यम से साधिकार वाणी प्रदान की। भग्न मूल्यों, विकारग्रस्त जड़ परम्पराओं आर्थिक असमानता, शोषित वृत्तियाँ, विघटित जीवन दशाओं को सायास कथा का अंग बनाकर उन्हें उपन्यासों में प्रकट करना शुरू किया। हिन्दी उपन्यास को इस रूप में सर्वथा नवीन जमीन प्रदान करते हुए यशपाल ने दादा कामरेड (१९४१) देशद्रोही (१९४२), पार्टी कामरेड (१९४३) और दिव्या (१९४५) आदि उपन्यास लिखे। रांगेय राघव ■ भी प्रेमचन्द के बाद के काल में निम्नवर्गीय चेतना को उपन्यासों का अंग बनाते हुए घरौंदा (१९४६), मुर्दों का टीला (१९४६) विषादमठ (१९४६) आदि रचनाएँ प्रदान की। इस प्रवृत्ति ने परवर्ती हिन्दी उपन्यास को दूर तक प्रभावित किया। दिव्या, गिरती दीवारें, मुर्दों का टीला, दादा कामरेड जैसी श्रेष्ठ रचनाएँ इस धारा से प्रदान की गई।

सांस्कृतिक धारा के उपन्यास

स्वाधीनता प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयासों के दौरान राष्ट्रीय जागरण के सुचिन्तित आधारों की खोज के लिए संस्कृति की गरिमासम्पन्नता की व्याख्या करने की महती अपेक्षाएँ प्रकट की जाने लगीं। सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में उदित नई सुधारवादी दृष्टि ने पुनर्जागरण के लिए भारतीय संस्कृति की महिमा का ही पुनर्प्रेषण किया। साहित्य में भी संस्कृति की भव्यता, उसकी गरिमा सम्पन्नता का चित्रण करते हुए उसके मूल में स्थित मानवीय आस्थाओं, विश्वबन्धुत्व के आदर्शों को सामाजिक मूल्यों के लिए प्रस्तुत किया जाने लगा। मनुष्य मात्र में उपस्थित रागात्मिका वृत्ति का उद्बोधन कर भारतीय गौरव का चित्रण इस कोटि के उपन्यासों का इष्ट बना। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) के माध्यम से प्राचीन सांस्कृतिक जीवन को उपन्यास का विषय बनाया। इसके पात्र प्राचीन आस्थाओं, जीवनादर्शों, मूल्यगत विश्वासों को जीते हुए संस्कृति के सत्य को साकार करने के रूप में उपस्थित हुए। चतुरसेन शास्त्री का वयरक्षाम, भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा (१९३३), यशपाल का दिव्या (१९४५) अपने-अपने ढंग से एतद्विषयक प्रयासों को साकार करते हुए उपस्थित हुए। रांगेय राघव का मुर्दों का टीला (१९४६) में सिन्धुघाटी की सभ्यता को साकार करते हुए इतिहास के परिप्रेक्ष्य में मोहनजोदड़ो के मानवीय जीवन का वर्णित किया गया है। इस कोटि के उपन्यासों में संस्कृति के मूल उत्सों का अनुसंधान करते हुए नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही अनुरागाश्रित हृदय के अनुसंधान की सफल चेष्टा की गई। निश्चय ही इस कोटि

के उपन्यासों । प्रेमचन्द परवर्तीकाल म ऐतिहासिक उपन्यासों से अलग नूतन कथा क्षेत्र का विस्तार किया।

ऐतिहासिक उपन्यास

प्रेमचन्द के पहले से ही हिन्दी म इतिहास पर आधारित उपन्यास लेखन की परम्परा का सूत्रपात हो चुका था किन्तु उस समय तक इतिहास के सत्य के नियामक पहलुओं की उपेक्षा कर रोमांस घटना का प्रकट करने वाली साधारण प्रेमकथा युक्त रचनाएँ ही लिखी गई। उनका उद्देश्य मनोरंजन से परिचालित होने के कारण य इतिहास का आधार केवल प्रेम निरूपण के लिए ही ग्रहण किए रहते थे। प्रेमचन्द जी ने सामाजिक यथार्थ को अधिक सम्मान दिया, अत उनके काल म इतिहास प्रधान उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति लगभग समाप्त प्राय हो गई। किन्तु प्रेमचन्द जी के पश्चात् ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा एक बार पुन अपनी गरिमा के साथ प्रस्तुत हुई। वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास के सत्य का निर्वाह करते हुए श्रेष्ठ उपन्यास लिखे जिनमे निर्जीव ऐतिहासिक घटनाओं म प्राण फूककर उन्हे सजीव बनाया गया। उनके गढकुण्डार (१६२६), विराटा की पद्मिनी (१६३६), झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई (१६४६) इत्यादि उपन्यासों ने हिन्दी म श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की साहित्यिक परम्परा का प्रवर्तन कर एतद्विषयक अभाव को पूरा किया।

निष्कर्ष

प्रेमचन्द के उत्तरवर्ती लेखकों ने सच्चे अर्थों म हिन्दी उपन्यास को वास्तविक जमीन प्रदान की। उपन्यास लेखन के सदर्भ म युग सम्पृक्ति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए जीवन के विस्तीर्ण विविधतापरक क्षेत्रों से कथा का रागात्मक जुडाव अनुभव किया जाने लगा। इस कारण सूक्ष्मतम मानवीय अनुभव य तरगायुक्त जीवन के सत्य अब केवल स्थूल समस्याओं के रूप म ही कथा के अग नहीं बन रहे वरन तरल विरल प्रसगों के रूप म उपन्यासों म प्रस्तुत किए जाने लगे। घटनाओं के बहिरग पक्ष पर आधारित स्थूलता क्रमश समाप्त हुई और उसके स्थान पर स्थितियो, जीवनदशाओं को उपन्यास की कथा का आधार बनाया जाने लगा। घटनाओं के घटाटोप के छँट जाने से वस्तु विन्यास म घटनाओं की निर्भरता समाप्त हुई और विन्यास की चारुता, अवान्तर प्रसगो की जीवन्तता व वस्तु व्यवस्थापना मे आन्तरिक सुघडता के दर्शन हुए। नाटकीय अन्वितियों के स्थान पर फ्लैशबैक डायरीशैली, आत्मकथा, जीवनी के तत्वो आदि को समाविष्ट कर कथा के प्रभाव को गहराई से स्थापित करने के प्रयासो का समारम्भ हुआ। कथानक की सश्लिष्टता बढी और काल्पनिक सत्य के स्थान पर यथार्थ के चित्रण की

प्रवृत्ति बढ़ी। बहिर्जगत के घटना प्रसंगों के साथ-साथ पात्रों की आंतरिकता कथानक का अंग बनकर उपस्थित हुई। कथा का आधार सुचिंतित कथ्य बन और उनका एकदशीय चित्रण लेखकों को रचना कर्म में प्रेरित करने का एक हेतु बना।

उपन्यास के पात्रों पर वर्ग-भावना के आरोपण की प्रवृत्ति के प्रति अब लेखकों में अरुचि का भाव पैदा हुआ। साँचे में ढले हुए गढ़े-गढ़ाए पात्र या लेखक के अतिशय नियन्त्रण में आत्मविकास प्राप्त करने वाले या लेखक के हाथ की निर्जीव कठपुतली बने हुए चरित्र तिरोहित हुए। ऐसे पात्रों का निर्माण किया जाने लगा जो लेखक के स्वयं के परिचितों को औपन्यासिक बाना पहिना रहा था। शेखर, चेतन, कल्याणी, सुनीता, मृणाल जैसे यथार्थ पात्रों पर कथा का छद्म आरोपित कर उन्हें निजी व्यक्तित्व का धनी बनाने के प्रयास शुरू हुए। चरित्रों पर आत्मारोपित अनुभवों के स्थान पर वस्तु की माँग के अनुरूप उनको संस्कार देने की प्रवृत्ति शुरू हुई। उनमें स्थितियों से जूझने की क्षमता संवर्द्धित हुई फलतः चरित्र अब अपेक्षाकृत अधिक सहज, विश्वसनीय, जीवन्त, निजी व्यक्तित्व के धनी एवं गतिशील होकर सामने आए। नायक के प्रति अभी तक औदात्य भावना पूर्ववत् छायी रही तथा उसे कथा के केन्द्र में रखकर कथा के निर्माण की प्रवृत्ति भी यथावत बनी रही। गुण-दोषों से युक्त होकर भी नायक को कथा का उन्नायक केन्द्र बिन्दु और सर्वेसर्वा बनाकर चित्रित किया जाता रहा। ऐसा होते हुए भी नायक को सम्बल प्रदान करने के लिए लेखक की निरतिशय सहानुभूति समाप्त हो गई। इसके फलस्वरूप व्यक्तित्व की पूर्णता, मानवीय आचरण की समग्रता के स्थान पर खण्ड चरित्रों विकारयुक्त चरित्रों वाली रचनाओं का दौर शुरू हुआ। व्यक्तित्व के अविकल स्वरूप को उजागर करने की जगह व्यक्ति को ही चित्रित किया जाने लगा। चरित्र बुनावट में सहज सपाट न रहकर गुम्फित, अंतर्मुखी, कुण्ठित, हीनभावापन्न और संश्लिष्ट होते चले गए। व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के पात्र अधिक उठाए जाने लगे उनकी चेतना के विविध पहलू कथा का अंग बनकर सामने आए। चरित्र सृष्टियाँ बाह्य आचरणगतता तक ही परि-सीमित न रह कर मनोविश्लेषण के द्वारा भी पूर्णता को प्राप्त करने लगी। कुल मिलाकर प्रेमचन्दोत्तर काल का लेखक व्यक्ति निर्माण कला में अपनी दक्षता प्रकट करने के लिए अधिक जागरूक हुआ। उसकी दृष्टि का विस्तार उपन्यास के चरित्रों की भागीदारी निभाता हुआ प्रत्यक्षीकृत हुआ।

मूल्यवादी दृष्टि के आधार पर भी प्रेमचन्दोत्तर काल के लेखकों को प्रेमचन्द काल के लेखकों से पूरी तरह विलग करके देखा जा सकता है। प्रेमचन्द युग आदर्श से यथार्थ की ओर संक्रमण करने का काल था। पूर्व में गांधीवादी जीवन दर्शन के प्रभाव क्षेत्र में प्रेमचन्द युग ने अपनी नीतियाँ निर्धारित की थीं। किन्तु

कल्पना जगत् के वे नतिक आदश यथाथ के कटु सत्यो से टकराकर टूट बिखर गए। जीवन की वास्तविकताआ न उन आदर्शों से सक्रमण करने की प्रेरणा दी जिससे स्वय प्रेमचन्द भी क्रमश यथार्थोन्मुखी हुए। तथापि समस्याक्रा त जीवन म भी कही कोई प्रकाश की किरण खोजने का मोह प्रेमचन्द युग के लेखक नही छोड पाए और यथाथ को चित्रित करते हुए भी आस्थावादी स्वर को मुखरित किए रहे। नैतिकता उनका चरम अभिप्रेत रही तो परम्परित मूल्य व्यक्ति आचरण की शाश्वत कसौटियाँ बनी रही। आस्था, नतिकता, आदश के प्रति प्रेमचन्द काल का लेखक उनम दोप ढूढकर भी अरुचि प्रकट नही कर पाया। यद्यपि उनकी कमियो को वर्णित कर वह तथ्य को झुठलाने की मूखता पूण चेष्टा भी नही कर रहा था तभी तो व लोग सुधारवादी रुख अपनाए रख सके थे।

प्रेमचन्द के परवर्ती लेखको न लेकिन आस्था, नतिक दुराग्रह, सुधारवादी दृष्टिकोण को छोड दिया। वतमान का विद्रूप यथाथ उनके मन म सशय के बीज बोकर उ हें स्थापित जीवनादर्शों से विरत कर रहा था। आस्था का स्वर अब सम्वादी स्वर न रहा बल्कि उसके स्थान पर अनास्थाओ का सूत्रपात हुआ। व्यक्ति के जीवन मे उभर आए अतर्विरोधो, असगतियो बिखरावो के सदर्भों म उन मूल्यो को जाँचने परखने की प्रक्रिया का समारम्भ हुआ। व्यक्ति स्वात न्य की पक्षधरता प्रबल हुई और विरोध, असहमति, कुण्ठाएँ आदि की अभिव्यक्ति देते हुए व्यक्ति चेतना के अवरोधक जीवन प्रसगो को प्रकट किया जाने लगा। नैतिक आदर्शों के प्रति कायल न रहकर भी ये लेखक व्यक्ति के परिवेश चित्रण के लिए आरम्भ यिचारित सत्य के आदशमय स्वरूप को प्रकट करने लगे। यह आत्मारोपित आदश भावना इनके उप यासो की पृष्ठभूमि म उपस्थित दृष्टिगत होती है। मूल्यो के प्रति स्वीकार का भाव समाप्त होकर अस्वीकार के रूप मे प्रकट होने लगा। व्यक्ति की निजता की कसौटी पर मूल्यो को नकारने की चेष्टाएँ भी हुइ। व्यक्ति आचरण को नैतिक आदर्शों के समकक्ष रखकर देखन के स्थान पर जिजीविषा के प्रयासो के रूप म निरूपित किया जान लगा। अनास्था का आधार व्यक्ति का अह बना और उसकी अभिव्यक्ति कथा की मूल ऊर्जा बनकर उपस्थित हुई। आर्थिक असतुलन, सामाजिक अगति एव सास्कृतिक जडता के दुष्परिणामो को व्यक्ति के आचरण के स्तर पर उतारकर वर्णित किया जाने लगा। जीवन की आपाधापी के यथाथ को मूल्यहीनता का हेतु बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा। सम्बन्धो मे बदलाव के सकेत देते हुए सश्लिष्ट जीवनानुभवो म उन्हे उपजीव्य बनाया जान लगा। यौन सम्बन्धों को अब अधिकाधिक प्राथमिकता दी जाने लगी। यौन कुण्ठाएँ, तनाव, विवाह की सस्था के दोष, विवाहेतर यौन सम्बन्ध, यौन स्वात न्य आदि अनेक कोणो स यौन समस्याओ का चित्रण किया जाने लगा। अश्लीलता का भय समाप्त हुआ और

श्लील-अश्लील की चिन्ता किए बिना ऐसे प्रसंगो को निरवरोध वर्णित किया जाने लगा। लेखक के लिए सुधारवादी सम्मति प्रदान करने की अनिवार्यता समाप्त हुई और पहिले से ही मन म पाले जाने वाले नैतिकता के दुराग्रह समाप्त हुए। प्रेमचन्द काल के लेखको ने मूल्यहीन जीवन दशाओ के चित्रण म अपनी जागरूकता का प्रदर्शन किया। सुधारवाद, नैतिक आदर्श, उपदेश कथन, परम्परा प्रेम को नकारकर मध्यवर्गीय व्यक्ति चेतना को अधिक ईमानदारी से चित्रित करना शुरू किया।

इस काल के लेखको ने उपन्यास निर्माण म अपनी शिल्प सजगता का भी परिचय दिया। वस्तु विन्यास के लिए नवीनतम शिल्पकला का उपयोग किया जाने लगा। उपन्यास अब अधिक कसावटयुक्त होकर सामने आए। चित्रण की बारीकी कथा की मितव्ययता एव प्रसगो को प्रभावशाली वर्णन कुशलता इनके शिल्प का आधार बनी। इनको अधिकाधिक प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए आत्मकथा, जीवनी, डायरी आदि समानान्तर समृद्ध गद्य विधाओ को उपन्यास मे समाहित किया जाने लगा। इनके अतिरिक्त लेखकीय छद्म, फ्लैश बैक, कथान्तर, चेतनाप्रवाह, शैली, स्वप्न, प्रतीक, मनोविज्ञान आदि की सहायता से शिल्प को सजाया जाने लगा। कथ्य की प्रेषणीयता के लिए सक्षम एव प्रभावपूर्ण भाषा का अनुसंधान किया जाने लगा। समग्र जीवन को एक ही कथाफलक पर अकित करने वाले महाकाव्यात्मक वैशिष्ट्य को धारण करने वाले विशालकाय उपन्यासो के चित्रण की प्रवृत्ति प्रेमचन्द युग की ही भाँति पनपती रही। इसके अतिरिक्त आत्म सम्पूर्ण लघुकाय उपन्यासों की एव सरिता-धम उपन्यासो की नवीन प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुइ। निस्सदेह प्रेमचन्दोत्तर काल का लेखक उपन्यास सृजन म अतिशय जागरूकता का परिचय देकर उपन्यास लेखन कम को एक नवीन दिशा प्रदान कर सका था।

इस प्रकार प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक साथ अनेक नवीन सशक्त हस्ताक्षर प्राप्त हुए इस कारण अब उपन्यास लेखन का ध्रुवीकरण प्रेमचन्द युग की भाँति व्यक्ति विशेष तक ही नही रह गया। उसका विकेन्द्रीकरण होकर वह अनेक सबल हाथों से आत्म विकास कर पाया। ये सभी लेखक मानसिक दृष्टि से प्रेमचन्दकालीन उपन्यास लेखन से अपनी असहमति प्रकट करते हुए सामने आए थे। किन्तु प्रेमचन्द परम्परा से इनकी असहमति की समान दृष्टि इन्हे उपन्यास लेखन को सामूहिकता नही प्रदान कर पाई। प्राय सभी लेखक पूववर्ती लेखन की न्यूनता, समस्याकान्तता आदशवाद स असहमत थे फिर भी इस आधार पर जुडाव अनुभव कर एक-दूसरे से सहमत होकर लिखन की जगह व अपन अपन स्तर पर असन्तोष प्रकट करते हुए अपन-अपन ही ढग स उपन्यास लेखन म प्रवृत्त हुए। पूववर्तियो से असहमत होकर इन्होंने स्थूल म विद्रोह कर

सूक्ष्मता को आत्मसात् करना शुरू किया। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता से असहमत होकर जैसे छायावाद के कवि ने स्थूल के प्रति विद्रोह कर कविता में सूक्ष्म को आत्मसात किया लगभग उसी भांति १९३७ तक उपन्यासों में छाई हुई स्थूलता के प्रति विद्रोह कर इन लेखकों ने सूक्ष्म, जटिल, वायवीय जीवन दशाओं को उपन्यास के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की। इस रूप में लेखन के स्तर पर वैयक्तिक अभिरुचियों को धारण करने वाले ये लेखक एकजुट होकर लेखन कर्म कर रहे थे। इनकी व्यक्तिनिष्ठ निजता ने हिन्दी उपन्यास को सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, ऐतिहासिक, प्रगतिशील आदि अनेक अस्पर्शित क्षेत्र प्रदान कर उसे समृद्धता प्रदान की, जिन पर चलकर स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी उपन्यास तीव्रगति से विकास प्राप्त कर पाया। इन्हीं दिशाओं का अवलम्ब पाकर परवर्ती उपन्यास अधिक समृद्ध, अधिक विविधोन्मुखी और अधिक प्रौढ़ हुआ। आजादी के बाद उपन्यास ने त्वरित विकास को प्राप्त कर समस्त हिन्दी साहित्य में अपना वर्चस्व स्थापित किया। अन्य विधाओं से अधिक लोकप्रिय होकर उपन्यास ने जिस गरिमा को प्राप्त किया उसका अग्रदूत प्रेमचन्दोत्तर काल का हिन्दी उपन्यास साहित्य ही है। इस सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि इस काल के लेखकों से ही (प्रेमचन्द को छोड़कर) हिन्दी उपन्यास पूरी तरह प्रतिष्ठित हुआ। इस काल में ही इन्होंने अपने आपको स्थापित कर लिया किन्तु इनसे अधिक प्रौढ़ रचनाएँ आजादी के बाद ही प्राप्त हुई। जैनेन्द्र, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वृन्दावनलाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, अज्ञेय की रचनाओं से न केवल प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यास लाभान्वित हुआ वरन समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य की पहचान अधिकांशतः इन्हीं लेखकों के द्वारा ही कराई जा सकी। इस काल की उपन्यास प्रवृत्तियां ही आजादी के बाद अधिक पनपी और नवोदित अन्य प्रवृत्तियों के साथ विकसित होकर हिन्दी उपन्यास को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा सकी। अस्तु हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचन्दोत्तर कालीन लेखकों का योगदान अन्यतम है और आजादी के बाद के उपन्यास लेखन की सच्ची दिशाओं को भलीभांति समझने के लिए इस काल के लेखन की दिशाओं का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपना अपना आकाश

छठे दशक का उपन्यास : नवबोध का काल

आजादी तक आते-आते हिन्दी उपन्यास को एक ठोस जमीन उपलब्ध हो चुकी थी। पूर्ववर्ती लेखकों ने उपन्यास को जीवन के बहुविध क्षेत्रों से जोड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास कर उसे सुनिश्चित दिशा प्रदान कर दी थी। विषय का विस्तार कर उसे आत्म विकास के सुनिश्चित अवसर प्रदान किए थे। कथ्य की प्रेषणीयता के लिए अब शिल्प सम्बन्धी सजगता की अपेक्षाएँ की जाने लगीं। स्थूल सामाजिक यथार्थ तक ही अपने आपको परिसीमित रखे रहने के स्थान पर सूक्ष्म जीवन प्रसंगों को उपन्यास का विषय बनाया जाने लगा। जीवन की उलझी स्थितियों से प्रत्यक्ष जूझने का प्रयास शुरू हुआ। मूल्यवादी मान्यताओं में अब तीव्र परिवर्तन आने लगे थे जिससे व्यक्ति को केन्द्र में रखकर सारी रचनाधर्मिता सक्रिय हुई। व्यष्टि चेतना की बहुआयामिता अनेक रूपों में सामने आने लगी। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का चित्रण मूल्यों की जड़ता के परिप्रेक्ष्य में किया जाने लगा। आस्थाओं का दौर समाप्त हुआ और अनास्था, अविश्वास, टूटन घुटन ग्रस्त व्यक्ति को उसकी सारी हताशाओं के साथ चित्रित किया जाने लगा।

लेखकों की जीवन दृष्टि का अन्तर आजादी के बाद अधिक गरिमा के साथ लक्षित हुआ। एक सीमा का संस्पर्श करने वाले लेखक वस्तुतः वे लेखक थे जो आजादी से पूर्व से ही लेखन कर्म में निरत हो चुके थे। उनकी दृष्टि आजादी के पहले की मूल्यवादी विचारधाराओं से ही संस्कारित हो चुकी थी। ये लेखक इस काल में और भी व्यापक जीवन दृष्टिकोण को लेकर रचना-कर्म करने लगे। इनके द्वारा इस अवधि में कतिपय ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत की गईं जो समूचे हिन्दी उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनके लेखन को आजादी के बाद के सामाजिक यथार्थ ने प्रभावित तो किया किन्तु वह इनकी रचनाधर्मिता का अन्तिम उत्प्रेरक नहीं बन सका। आजाद भारत की विगलित जीवन दशाओं से आहत होकर इन लोगों ने उनसे ऊपर उठने की लेखन क्षमता प्रदर्शित की। शाश्वत मानव मूल्यों के प्रति आस्थामयी दृष्टि के कारण ये लोग अमर महत्त्व की रचनाएँ दे सके थे। इनके पात्र निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व को प्राप्त कर समष्टिगत

मानवीय आचरणगतता का प्रतिनिधित्व कर सके थे। शिल्प की दृष्टि से ये परम्परित मान्यताओं को परिपुष्ट करते हुए लेखन कार्य कर रहे थे अतः उस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाएँ नहीं दे पाए तथापि कथ्य की महिमा के कारण ये लोग व्यापक प्रभाव छोड़ने वाली विपुल रचनाएँ दे सके थे।

पहिले से ही लेखन कर्म में निरत इन लेखकों ने प्रायः उन्हीं दिशाओं का अनुवर्तन किया जिनको वे पूर्वकाल में ही प्रेमचन्द काल की प्रतिक्रिया रूप में स्थापित कर चुके थे। इस काल में भी इन्होंने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, प्रगतिशील, सांस्कृतिक, व्यक्तिवादी, ऐतिहासिक वर्गों में अपने सोच को बाँटकर उपन्यास लिखे। इन धाराओं में अंतर्वर्तिनी एकरसता की उपस्थिति के कारण इनके उपन्यास कहीं-कहीं केंद्रच्युत हो ऊब को प्रकट करते दिखाई देते हैं। व्यक्तिवाद को चिन्तन के स्तर पर स्वीकार करते हुए भी व्यापक सामाजिक आदर्श इनके उपन्यासों में अधिक गहराई से उभरकर सामने आए। इसी कारण असंगतियों विडम्बनाओं, अंतर्विरोधों का चित्रण करते हुए भी केवल ऋणात्मक प्रभाव पाठकों पर छोड़ना इन्हें स्वीकार्य न था। उसके स्थान पर इन्होंने उपन्यासों में महत् उद्देश्यों की सिद्धि का प्रयास किया। जीवन के विशाल क्षेत्र को उपन्यासों में समेटते हुए विविध जीवन प्रसंगों एवं विविध मानसिकता वाले अनेक चरित्रों को एक साथ एक ही उपन्यास में समेटने की अद्भुत क्षमता का प्रदर्शन किया। जनेन्द्र को छोड़कर अमृतलाल नागर, यशपाल, अश्क, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, वृन्दावनलाल वर्मा, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि सभी ने व्यापक कथा फलक वाले विशालकाय उपन्यासों का सृजन किया। उनमें सभी घटनाओं, चरित्रों के संतुलित विकास को प्रस्तुत करते हुए अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद सामने आई नवीन पीढ़ी ने इन्हें रीतिकालीन मानसिकता का लेखक कहकर इनकी उपेक्षा की, इन पर सामयिक यथार्थ से प्रत्यक्ष जूझने की अक्षमता का आरोप लगाया, बुर्जुआ संस्कारों के लेखक कहकर इनके कृतित्व के महत्त्व को नकारते हुए इन पर आरोपों, आक्षेपों, लाञ्छनों का कीचड़ उलीचा गया तथापि ये उन सब से निरपेक्ष रहते हुए रचना कर्म में निरत रहे। एतद् विषयक इनकी सहिष्णुता ही इनके कृतित्व की महिमा का कारण बनी।

इस काल में इनके उपन्यास अपने अपने स्तर पर स्वानुभूत जीवन सत्य को उपन्यास का विषय बनाते हुए उन्हें चित्रित कर रहे थे। युग सत्य के बदलाव के कारण यत्किंचित मानसिक बदलाव के बावजूद ये उदार जीवन दृष्टि को ही उपन्यास का विषय बनाए हुए थे। इस कारण इसी काल में सामने आई नई पीढ़ी के समान ये एकाधिक बहुआयामी उपन्यास प्रवृत्तियों को एक ही रचना में अंतर्भुक्त नहीं कर सके। इनकी रचनाएँ पूर्व स्थापित दिशाओं में ही अग्रसर होती

हुइ समक्ष आइ। उसकी विविध दिशाओ के आधार पर उनके स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन उपन्यासों का निम्नवत् मूल्यांकन किया जा सकता है—

पूर्ववर्ती परम्परा का उपन्यास लेखन

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

जैनेन्द्रकुमार ने एक प्रकार से प्रेमचन्दकालीन समस्याप्रधान कथानकों से हिन्दी उपन्यासों को मुक्ति दिलवाई थी। कथा के नवीन स्वरूप का चित्रण करते हुए इन्होंने पात्रों की मनोभूमियों को उपन्यास का विषय बनाया था। कथानक की परम्परित गरिमा से दूर इनके उपन्यास पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का साक्षात्कार करके ही समाप्त हो जाते हैं। प्रेम के विकार की सृष्टि करते हुए इनके उपन्यास लेखक के निजी विचारों को स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। वस्तु विन्यास में अभूतपूर्व मितव्ययता एवं सुघड़ता के कारण इनके उपन्यास कथा में उपस्थित गौण घटना प्रसंगों के बावजूद [illegible] केन्द्रित बन जाते हैं। चिन्तन की प्रखरता उपस्थित होकर इनके [illegible] पर भारी हो जाती है। पात्रों का यह चिन्तन अपनी उपस्थिति में [illegible] जाता है। पात्रों में आचरणगत सामान्यता के दर्शन नहीं [illegible] जीवन दशाओं में प्राय असामान्य आचरण करते हुए [illegible] है। [illegible] संसार के प्रति विशेष जागरूक रहकर ये पात्र [illegible] भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाता। एक अजीब प्रकार का [illegible] अविश्वसनीय आचरण करते चलते हैं। निराशा, सम्वेदन[illegible] [illegible]-घाती जड़ता, आदि परस्पर विरोधी [illegible] अपने आचरण से समूची रचना का ही [illegible] है। आजादी के पहले से ही जैनेन्द्र ने [illegible], [illegible], [illegible] लोक-प्रिय उपन्यासों को प्रस्तुत कर पर्याप्त [illegible] थी। [illegible] बाद का इनका लेखन पूर्ववर्ती [illegible] उन्हीं पात्रों, कथा सृष्टियों का ही [illegible] (१९५२), विवर्त (१९५३), [illegible] (१९[illegible]) [illegible] लेखक की अपनी मजबूरी के [illegible] और विवर्त दोनों में [illegible] क्रान्ति का निरूपण केवल [illegible] विश्वसनीयता पैदा नहीं [illegible] है। [illegible] साकार करता है। बुद्धि [illegible] जीवन में कहीं कोई [illegible]

परास्त और भविष्य के महत्त्व को न पाकर शालीन युग तक पहुँचते-पहुँचते संसार से विरक्त हो संगम किनारे स्वामिनी के सहारे ही जीवन यापन करने लगता है। उसे दूसरे जन्म की भी आशा है जहाँ वह शायद इस जीवन की भाँति निस्सारता का ही प्राप्य न कर सकेगा। अतः उपन्यासों की स्थापित लीक का अंत है। यद्यपि परवर्ती उपन्यासों में ताजगी की चेष्टा भी की किन्तु वे उसमें सफल नहीं हो पाए। मुक्तिबोध (१९६५) में राजनीतिक क्षेत्र में त्रिपाठी महोदय की प्रौढ़ वय में उत्पन्न दुविधा का वर्णन किया गया है। जयवर्धन (१९५६) में इन सभी से अलग हटकर आगामी भविष्य की कल्पना में जी लेने की विफल चेष्टा की है। अनामस्वामी (१९७४) प्रस्तुत उपन्यास के नायक की मानसिक उधेड़बुन प्रस्तुत करने के लिए १९४२ में लिखे गए बारह अध्यायों का ही विस्तृत रूप है जिसमें वी० दयाल की भेंट अनाम स्वामी से करवाकर लेखक ने उसी कथा को नया आयाम देने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र के आज़ादी के बाद के उपन्यास उस लोकप्रियता को प्राप्त नहीं कर पाए जितनी की आज़ादी से पहिले वाले सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी जैसे उपन्यास प्राप्त कर सके थे। इसका कारण यह है कि जैनेन्द्र भिन्न कथा ही नहीं पात्रों, विचारों, जीवन दृष्टि, चिंतन से प्राप्त निष्कर्षों, उनसे मानसिकता की आवरणगतताओं का ही प्राय दोहराते चले गए। इस कारण इस काल में इनके उपन्यासों की चर्चा तो हुई लेकिन यह उनकी पूर्व प्रतिष्ठा के कारण ही अधिक हुई। हिन्दी उपन्यास को इस काल में विशिष्ट दशा देने का श्रेय उन्हें नहीं दिया जा सकता।

इलाचन्द्र जोशी ने मनोविज्ञान के शास्त्रीयपक्ष को उपन्यासों का विषय बनाया था। उस क्षेत्र के सिद्धान्तों के निरूपण के निमित्त कथा की संरचना करते हुए इन्होंने उपन्यास लिखे थे। आज़ादी के बाद व्यक्ति केन्द्रित मानसिकता से अलग हटकर जोशीजी ने सामाजिकता से जुड़ाव की सफल चेष्टा भी की है। जैनेन्द्र की भाँति पात्रों की अंतर्वृत्तियों को उपन्यास की कथा का अंग बनाकर भी ये केवल संश्लिष्ट मानसिकता वाले चरित्रों को खड़ा कर चुप नहीं रह जाते वरन् उससे आगे बढ़कर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विश्लेषण भी कर जाते हैं। आज़ादी के बाद ये सिद्धान्तकथन की अतिशय मोहान्धता से मुक्त होकर व्यापक सामाजिक यथार्थ के साथ पात्रों की आंतरिकता का अंकन करने की ओर सचेष्ट हुए। इसलिए इस काल में लिखे गए इनके उपन्यास अधिक विश्वसनीय हो सके। मुक्तिपथ (१९५०) 'जीवन के किसी भी विद्रोह में ध्वंस और निर्माण की धाराओं के संगम के बिना कभी कोई रस प्राप्त नहीं होता' का सन्देश पाठकों तक पहुँचाता है। सुबह के भूले (१९५२) मार्गच्युत नायिका की रचना के अन्त में प्राप्त आत्मबोध की साधारण रचना है। जिप्सी (१९५२) में सम्पत्ति और श्रम की टकराहट को सामाजिक वर्गों के भिन्न संस्कार एवं आचारशीलता के आधार

पर वर्णित किया गया है। जहाज का पंछी (१९५५) जोशी जी का श्रेष्ठ उपन्यास है जो रोगग्रस्त मध्यवर्गीय आधुनिक समाज के खोखलेपन को साधिकार वर्णित करता है। बेरोजगार नायक के माध्यम से आजाद भारत के विद्रूप सामाजिक यथार्थ के सवाक चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किए गए हैं। ऋतुचक्र (१९६९) समसामयिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विचार धाराओं तथा राजनैतिक कुटिल परिवेश से उत्पन्न मूल्यहीन भ्रष्ट जीवन प्रणालियों के विरोध में वैचारिक धरातल पर सशक्त स्वर उठाता है।' इलाचन्द्र जी का लेखक आजादी के बाद अधिक सशक्त होकर सामने आया है और इन्होंने अन्तर्जगत् की शास्त्रीय संश्लिष्टता को छोड़कर इस काल में बहिर्जगत की ओर अपनी उन्मुखता का प्रदर्शन किया। जिसके कारण जहाज का पंछी, ऋतुचक्र इस काल के हिन्दी उपन्यासों में अत्यन्त महत्त्व प्राप्त कर सके।

आजादी के पश्चात् मनोविज्ञान सम्पन्न उपन्यासों के लिए अपरिहार्य अनिवार्यता बन गया। वस्तु संघटन के लिए स्थितियों के चित्रण के लिए वायवीय जीवन प्रसंगों के अंकन के लिए, उलझी सामाजिकता को साकार करने के लिए मनोविज्ञान एक सबल उपकरण बनकर उपस्थित हुआ। पात्रों की आन्तरिकता उनकी हीनताएँ, ग्रंथियाँ, घुटन, दमन, अहं, प्रतिस्पर्धा संश्लिष्टता सभी के चित्रण के लिए, संक्षेप में कहा जाए तो व्यक्ति निर्माण के लिए मनोविज्ञान अब एक अनिवार्यता बन गया। अतएव अब केवल मनोविज्ञान के आदर्शों पर लिखे जाने वाले उपन्यासों की प्रवृत्ति समाप्त हुई। मनोविज्ञान कथा सर्जन के अन्य नियामक पहलुओं के साथ उपन्यास की अनिवार्यता बन गया। आज लिखे जाने वाले प्रायः सभी सफल उपन्यासों में कथा और पात्र रचना का ठोस आधार मनोवैज्ञानिक शिला पर ही प्रतिष्ठित दिखाई देता है।

प्रगतिशील चिंतन से जुड़े हुए उपन्यास

आजादी के पूर्व ही प्रगतिशील चिन्तन को प्रश्रय देकर उपन्यास लेखन की परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। इस वर्ग के लेखक सामाजिक वर्गों में दृष्टिगत असामञ्जस्य को प्रस्तुत करते हुए तथा निम्नवर्ग के प्रति उदार आस्थाएं प्रकट करते हुए अपनी रचनाएँ दे रहे थे। यशपाल इस परम्परा के प्रवर्तक लेखक रहे हैं। वे प्रारम्भ से ही प्रगतिशील विचारधारा से प्रतिबद्ध होकर रचना कर्म में निरत हो रहे थे। आजादी के पूर्व तक पर्याप्त प्रसिद्धि पाकर ये शिल्पोदर की समस्याओं के चितेरे लेखक कहलाने लगे थे। आजादी के बाद एक अच्छे उपन्यासकार की शर्तों को पूरा करते हुए इन्होंने वैचारिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर उदार मानवीय आस्थाओं को उपन्यासों का विषय बनाया जिसके परिणामस्वरूप वे 'झूठासच' जैसा [वतन और देश(१९५८), और देश का भविष्य

(१९६०) के शीर्षकों में अनमत दो भागों वाला] हिन्दी का श्रेष्ठतम उपन्यासों में गणनीय उपन्यास दे सके। विभाजन की घटना पर आधारित यह उपन्यास एक क्रूर राजनीतिक निर्णय का अत्यंत मार्मिक हृदयस्पर्शी दस्तावेज है। आजादी के रूप में पाली गई आस्थाएँ इस कारण हिंसा, लूटपाट, बलात्कार, बर्बरता के रूप में परिणत होकर अमानवीय आचरण का हेतु बन गई। देश का विभाजन यों महत्वाकांक्षी राजनेताओं के सकीर्ण स्वार्थों भर को प्रकट कर सका। 'झूठासच' इस रूप में आजादी के मोह पर अनेक प्रश्न चिन्ह खड़े करता है। किन्तु इस चरम दशा को प्राप्त कर यशपाल उसका निर्वाह नहीं कर पाए। मनुष्य के रूप (१९४६) अमिता (१९५६), बारहघण्टे जैसी साधारण रचनाएं ही दे पाए। उनका अंतिम उपन्यास 'तेरी मेरी उसकी बात' (१९७४) कांग्रेस की स्थापना से शुरू होकर गांधीवादी युग का पुनपरीक्षण करते हुए स्वतन्त्रता प्राप्ति तक के इतिहास को अंकित करता है। लेकिन इस विस्तीर्ण कालखण्ड के इतिहास को लेखक उपन्यास के रूप में जीवन्त साहित्य बनाने में विफल रहा है। यद्यपि स्फुट प्रसंगों के रूप में उदित कथा के कई प्रसंग इसे ऐतिहासिक निर्जीवता से मुक्त कर सजीव बना सके हैं। 'झूठासच' के रूप में यशपाल का योगदान आजादी के बाद के उपन्यासों में ही नहीं समूचे हिन्दी उपन्यास साहित्य में अन्यतम महत्त्व रखता है।

डा० रांगेय राघव भी वैचारिक धरातल पर प्रगतिशील चिन्तन को धारण कर उपन्यास लिखने वाले लेखक हैं। किन्तु यशपाल की तरह ये केवल शिश्नोदर की समस्याओं का ही एकमेव प्रतिपाद्य बनाकर रचना कर्म में निरत नहीं हुए। इन्होंने अपने पात्रों को सजीव जीवन स्थितियों के भोक्ता के रूप में कथा के माध्यम से खड़ा किया। मुर्दों का टीला (१९४६) और घरौंदा (१९४६) जैसे उपन्यास लिखकर ये मानो स्वतन्त्रता की पूर्व सध्या पर ही स्थापित हो चुके थे। इस काल में इनकी अविस्मरणीय कृति 'कब तक पुकारूँ' (१९५७) सामने आई जो सामाजिक उपेक्षा, तिरस्कार के शिकार करनटों के कारुणिक जीवन प्रसंगों को उनकी बंजारा वृत्ति के माध्यम से मार्मिकता के साथ चित्रित करता है। वैसे तो रांगेय राघव ने अनेक उपन्यास लिखे हैं किन्तु इनका योगदान संख्या की दृष्टि से उतना नहीं है जितना कि इनके द्वारा किए गए कतिपय कथा प्रयोगों की दृष्टि से है। इन्होंने दो प्रकार के अनूठे कथा प्रयोग हिन्दी में किए हैं। पहिले प्रकार का प्रयोग किसी अन्य लेखक के द्वारा लिखे गए उपन्यास का उन्हीं पात्रों, घटनाओं और परिवेश में प्रत्युत्तर की तरह उपन्यास लिखने के रूप में है। बंकिमचन्द्र के बंगला उपन्यास 'आनन्दमठ' के जवाब के रूप में विषादमठ (१९४६) भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास टेढ़े मेढ़े रास्ते (१९४६), के प्रत्युत्तर के रूप में सीधा सादा रास्ता' (१९५५) आदि उपन्यास ऐसी ही रचनाएँ हैं। रांगेय राघव ने हिन्दी के प्राचीन कवि लेखकों के जीवन चरितों से सम्बन्धित

उप यास लिखकर भी अ य प्रकार के प्रयोग किए। कबीर के जीवन पर आधारित 'लोई का ताना' और तुलसी के जीवन पर आधारित 'रत्ना की बात' एसे ही प्रयागा के रूप म दखे जा सकते हैं। रागेय राघव के इन उपन्यासो का प्रयोग से इतर महत्व नही है। आजादी के बाद लिखे गए उनके अ य उल्लेखनीय उप यास हैं चीवर काका (१९६३), हुजूर, धूनी का धुआं इत्यादि ह। रागेय राघव के 'मुर्दों का टीला' और 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास हिन्दी उपन्यासा म अत्यधिक महत्त्व रखत है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय न प्रतिबद्ध लेखन की पक्षधरता को उप यासा के माध्यम म प्रकट करत हुए रीछ और युवा जीवन पर आधारित फँटसी पक्षधर (१९७१) उपन्यास प्रस्तुत किए।

भरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास माक्सवादी विचारधारा से पोषित होकर लिखे गए हैं। सामाजिक विसगतिया का चित्रण समाजवादी विचारधारा स करत हुए लखक विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोगो की यातनाभरी जिन्दगी को चित्रित कर भविष्य की आशाआ का सकत करता है। 'मशाल' (१९५१) म जहाँ लेखक का प्रयास एस ही सिद्धान्त आश्रित कथा को प्रस्तुत कर चुप हा गया था वहा 'गगा-मया' (१९५३) म वह समाज के मूल म स्थित उसकी क्रान्तिकारी शक्तिया को पहिचान कर उनस भविष्य की आशाओं का सरलता से जाड चुका है। ग्रामीण जीवन पर आधारित झकझोरने वाला इनका श्रेष्ठतम उपन्यास सत्ती मया का चौरा (१९५५) है। मार्क्सवाद की जमीन पर स्थित यह उपन्यास ग्राम्य सामाजिक चेतना का साकार करता है। नौदी (१९७१), नौजवान (१९७२), जजीरें और नया आदमी इनके अ य उपन्यास है।

रामेश्वर शुक्ल अचल भी यशपाल की लेखन परम्परा पर लिखन वाले लेखक हैं। किन्तु द्वन्द्वात्मक सामाजिक स्थितिया का एव तज्जन्य जीवन प्रसगा म उलझे पात्रा की आचरणगतता को य कथानक म प्रयुक्त कल्पना प्राचुय के कारण कुशलता स चित्रित नही कर पाए। उल्का (१९४७) नयी इमारत (१९४६), चढती धूप (१९४५) मरुप्रदीप (१९५१) इस काल म लिखे गए उपन्यास हैं।

नागार्जुन के उपन्यास प्रगतिशील चितन स जुडे रहकर भी उसकी शास्त्रीय व्याख्या के बोझ से कुचले हुए नही है। मिथिला अचल के लोक जीवन का आधार बनाकर इन्होंने सच्ची मानवीय आस्थाओं को उपन्यासों म उभारने की सफल चेष्टा की है। सामाजिकता के मार्क्सवादी पहलुओं से जुडकर भी जीवन्त लोक चेतना को सटीक अभिव्यक्ति द सकने म समथ रहे हैं। 'व यथाथ के क्रान्तिकारी पक्ष को पहिचानत है तथा जीवन की उन शक्तिया को उभारते है जिनसे समाज मे विषमता दूर होगी, रूढियो का नाश होगा और मानव का विकास होगा। रतिनाथ की चाची (१९४८), बलचनमा (१९५२), नयी पौध (१९५३), बाबा

बटेसरनाथ (१९५४), दुखमोचन (१९५७), उग्रतारा (१९६३), इमरतिया (१९६८) पारो(१९७५) हीरकजयन्ती, कुम्भीपाक, वरुण के बेटे आदि उपन्यास भिन्न वस्तु विधान एवं व्यक्ति चरित्रों को लेकर भी परिवेश एवं कथ्य की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य रखते हैं।

अमृतराय भी प्रगतिशील विचारधारा के समय लेखक हैं। मार्क्सवाद के प्रति उमडता इनका मोह क्रमश क्षीण होकर वस्तु व्यापारो के साथ न्यायोचित ट्रीटमेंट देने वाला प्रयास बना। बीज (१९५२) शिक्षित नारी के दायरे से बाहर आकर व्यापक सामाजिक जीवन से जुडने की चेष्टा को प्रकट करता है। नागफनी का देश, सुख दुख, जगल, धुआँ (१९७७) सामाजिक जडता स आक्रान्त व्यक्ति चेतना को प्रगतिशील आधारो पर स्थापित करते नजर आते हैं।

आजादी के बाद प्रगतिशील चितन का और भी तीव्र विकास होने से स्वतन्त्रता, वर्ग विभाजन, दलितो के प्रति सहानुभूति का भाव, शोषण का विरोध आदि बातें हिन्दी उपन्यासधारा का प्रिय विषय बनी। इतर विचारधारा के पोषक लेखकों ने भी नारी चेतना, दलितो के प्रति सहानुभूति को प्रकट कर मानवीय आस्थाओं को उपन्यास का विषय बनाया। मध्यवर्ग हिन्दी उपन्यासों का प्रिय विषय भी बना। महानगरीय बोध का आधार भी मानवतावादी आस्थाओं से निसृत हुआ। निम्न वर्ग की चेतना विविध आयामो के साथ समूचे कथा साहित्य पर छा गई इस कारण शुद्ध प्रगतिशील आधारो पर लिखे गए उपन्यास पाठको का ध्यान आकर्षित नहीं कर पाए। प्रगतिशील मानदण्ड आचलिकता आदि में अन्य आधार ग्रहण कर प्रकट किए गए। नागार्जुन इस कोटि के उपन्यास लेखक हैं जिन्होने निम्नवर्गीय चेतना को आचलिक आधारो पर अवलम्बित कर प्रस्तुत किया। अपने लघुकाय उपन्यासो में नागार्जुन ने सामाजिक दमन की निरकुशता से पिसती निम्नवर्ग के पात्रो की जिजीविषा को सशक्त वाणी दी है। अश्क, रेणु, इत्यादि अन्य लेखकों ने भी इसी विचार धारा से जुडकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। प्रगतिशील चिन्तन के पक्षधर समीक्षकों का सम्बल पाकर इस कोटि में उपन्यास चर्चित तो खूब हुए किन्तु 'भूठासच' व 'कब तक पुकारूँ', बीज गली मैया का चौरा, वरुण के बेटे आदि का छोडकर विशेष प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर पाए।

सामाजिक यथार्थ से जुडे हुए उपन्यास

प्रेमचन्द्र जी के द्वारा अपनाई गई स्थूल सामाजिक समस्याओं को वाणी देने वाली प्रवृत्ति यद्यपि परवर्ती काल में आकर समाप्तप्राय हो गई तथापि उन्ही के धरातलों पर लेखन कार्य आजादी के बहुत बाद तक चलता रहा। एक लेखक विपुल उपन्यास प्रस्तुत करके भी साहित्य में उल्लेखनीय स्थान प्राप्त नहीं कर

पाए। इस धारा को प्रारम्भ मे भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव शम्भूदयाल सक्सना, ऋषभचरण, आदि लेखक आगे बढाते चले गए तो सातवें दशक के बाद गुरुदत्त, गुलशननन्दा, चतुरसेन शास्त्री, श्रीराम शर्मा यज्ञदत्त शर्मा, उषादेवी मित्रा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, इत्यादि लेखक बढाते चले गए। इस धारा का लेखन स्थूल नतिक आदर्शों एव परम्परित मूल्या के प्रति अतिशय जागरूकता के कारण विशेष प्रभावशाली साहित्य नही बन पाया।

आजादी के बाद के तीव्रगति से बदलते सामाजिक यथाथ को वाणी देने वाले अनेक उपन्यासकार उस कोटि के लेखक थे जो परम्परित उपन्यास लेखन की स्थूलता को नकार कर जटिल सामाजिकता के सत्या का अधिक बारीकी से चित्रित कर रहे थे। उपेन्द्रनाथ अश्क का इस कोटि के लेखन म विशेष महत्त्व है। आजादी के पूव म ही लेखन काय शुरू करके य पहिले से ही स्थापित हो चुके थे। इस काल म इनकी लेखनी की प्रबलधार स अनक सशक्त औपन्यासिक रचनाएँ सामने आइ। गिरती दीवारें(१९४६)अपन नायक चेतन के माध्यम स मध्यवर्गीय जीवन स्थितिया एव उनसे जूझते व्यक्ति की मानसिकता को उदघाटित करता है। उसकी आकाक्षाएँ, यौनेच्छाएँ, आर्थिक विवशताएँ मूल्यवादी दृष्टि, टूटन समझौतापरस्ती आदि सभी जीवन पहलुआ का सस्पश करन वाली कथा जीवन के सामाजिक यथाथ को बेबाक ढग से वर्णित करती है। इसी पात्र का एव मध्य-वग की जीवन स्थितिया की विकारग्रस्त दशाओ को अश्क जी न आजादी के पश्चात भी आग बढाते हुए तीन अन्य उपन्यास 'शहर म घूमता आईना (१९६३) एक नन्ही किन्दील (१९७१) और बाँधो न नाव इस ठाव (१९७४) लिखे। ये सभी उपन्यास मिलकर एक ही वस्तुफलक को क्रमश सर्वधित कर सरितापम उपन्यास की आदश दशा को स्पष्ट करते है। एक ही कथा से जुडे रहकर भी य सभी उपन्यास आत्मपूर्ण स्वतन्त्र उपन्यास के रूप म रखे जा सकते हैं। अश्क वणन शिल्पी है इसी स आकार म बडे होत हुए भी इनके उपन्यास रोचक और पठनीय बन पडे हैं। गमराख (१९५२) कथ्य की दृष्टि स गिरती दीवारें के निकट हैं। बडी-बडी आखें (१९५४) पत्थर अल पत्थर (१९५७) अश्क जी के अन्य विशिष्ट उपन्यास हैं। अश्क मूलत निम्नमध्यवर्गीय चेतना के चितेरे लेखक हैं। उनके जीवन के यथाथ को व्यक्ति पर अवस्थित कर य सामाजिकता का चित्रण करते हैं इसलिए इनके सभी उपन्यास प्राय एक ही दायरे म घूमत हुए से परि-लक्षित होत है।

अमृतलाल नागर की औपन्यासिक सम्भावनाओ का समारम्भ 'महाकाल उपन्यास के साथ ही हो चुका था जिसकी चरम परिणति बूद और समुद्र' (१९५६) म हुई। इस उपन्यास को नागरजी द्वारा प्रस्तुत नगरीय जीवन का जीवन्त दस्तावेज कहा जा सकता है। मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन के बनते-

बिगडते सम्बन्धो को, वैभवसम्पन्न भारतीय सस्कृति की सास्कृतिक जडता को, सामाजिक अगति को, मूल्यहीन जीवन स्थितिया, सदभ च्युत सस्कारा की निस्सारता को इस उपन्यास मे प्रस्तुत किया गया है। कसी हुई विस्तृत कथा, ताई जसे अमर पात्र एव लखनऊ के ठेठ चौक के जीवन के माध्यम से समग्र भारतीय सडाधग्रस्त जीवन दिनचर्या का इसम अकित किया गया है। नागरजी एक सच्चे शोधार्थी की भाति जीवन के सूक्ष्मतम अवयवा का ढूढ निकालकर उपन्यास मे साकार करने म समथ रहे ह। इस कारण बूद और समुद्र हिंदी का प्रतिनिधि उपन्यास बन सका है। 'विष और अमृत' (१६६६) मे लेखक न उपन्यास की रचना प्रक्रिया के उत्स पर कथा को अवस्थित कर उपन्यास के भीतर उपन्यास के विस्तार को सजीवता प्रदान की है। दो समानान्तर कथा भूमियो को एक ही कथा के अतगत सयोजित कर लेखक न अपनी अभूतपूव लेखन क्षमता का परिचय दिया है। हिंदी के ख्यातनाम लेखक की षष्ठिपूर्ति के समारोह के माध्यम से उसके भीतर की उथल पुथल को राजनीतिक, पारिवारिक, सामाजिक दशाओ के परिपाश्व म वर्णित करते हुए लेखक की आर्थिक विपन्नता को तथा नैतिक मूल्यो को समथन देते हुए भी उसके द्वारा किए विवश समझौता को इसम प्रहारात्मक ढग म वर्णित किया गया है। रागेय राघव की ही भाति नागरजी ने भी हिंदी के प्राचीन कवियो से सम्बधित उपन्यास लिखे लेकिन अधिक अधिकार पूवक किए गए प्रयासा के रूप मे। तुलसी के जीवन से सम्बन्धित 'मानस का हस' (१६७२) हिंदी के विशिष्ट उपन्यासा म से एक है। इसी उपन्यास से प्रेरणा लेकर नागरजी ने सूर के जीवन से सम्बधित 'खजन नयन' (१६८०) उपन्यास लिखा है। इन दोनो उपन्यासा म नात ऐतिहासिक सत्य की निर्जीवता को दूर करते हुए युग छवि को अद्भुत कौशल से चित्रित कर सजीव बनाया गया है। इसी कारण ये दोनो ही उपन्यास इतिहासाश्रित साधारण उपन्यास मात्र न रहकर सशक्त साहित्यिक कृतियाँ बन सके है। हरिजना के जीवन प्रसगा का उकेरते हुए इन्होने नाच्यो बहुत गोपाल (१६७८) उपन्यास लिखा है। शतरज के मुहरे (१६५६), सुहाग के नूपुर (१६६०), सात घूघट वाला मुखडा (१६६८), एकदा नमिषारण्य (१६७२) इत्यादि इनके अन्य उपन्यास हैं। निस्सन्देह नागरजी की उपन्यास कला न समग्र हिंदी उपन्यास साहित्य को गौरव प्रदान कराया है। बूद और समुद्र मानस का हस खजन नयन, नाच्यो बहुत गोपाल हिन्दी के कालजयी उपन्यासो के रूप म प्रतिष्ठित हैं।

भगवतीचरण वर्मा चित्रलेखा (१६३३) लिखकर ही हिंदी के अग्रणी उपन्यासकारा म प्रतिष्ठित हो चुके थ। आजादी के बाद इन्होने भारतीय सामाजिक राजनीतिक यथाथ पर अवस्थित कर अनक श्रेष्ठ रचनाएँ प्रदान की। टेढ़े मढे रास्ते (१६४६) आजादी के पूव की भारतीय सामाजिक स्थितियों का

एव आजादी के लिए किए जाने वाले प्रयासो के विविध दिशा प्रयासो को एक ही जमीदार पिता के परिवार के माध्यम म प्रकट करता है। गुलाम भारत के एक कालखड पर आधारित तीन-तीन पीढ़ियो की कथा को समेट कर सामने आने वाला इनका 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) उपन्यास भी विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका। एक परिवार को केन्द्र मे रखकर लेखक ने उनके माध्यम से १८८५ से लेकर १९३० तक के भारतीय इतिहास को उजागर किया है। कथा म एक साथ पूजीवाद के विकास और सामन्तवाद के ह्रास की, विदेशी शासन के महत्त्वपूर्ण आधार स्तम्भ मध्य वर्ग के उदय की, नवोन्मित राष्ट्रव्यापी सामाजिक राजनीतिक चेतना की, हिन्दू मुस्लिम एकता की विविध समस्याओ व आयामिता उभारी गई है। इसी भांति का विशाल कथापट इनके 'सीधी सच्ची बातें' (१९६८) उपन्यास मे निर्मित हुआ है। सामर्थ्य और सीमा' (१९६२), 'प्रश्न और मरीचिका' (१९७३) म भी इसी भांति समाज राजनीति के सम्मिश्रित स्वरूप का अकित करने का प्रयास हुआ है। सबहि नचावत राम गुसाई (१९७०) म वर्माजी ने अपनी लेखन परम्परा स अलग हटकर नवधनाढ्यो, धनकुबेरो और अधकचरे आदर्शों पर टिके हुए राजनेताओ के आधारहीन, अनैतिक, मूल्यरहित थोथले आचरणो को व्यग्य के रूप म वर्णित किया है। इस रूप म यह उपन्यास 'राग दरबारी' की तरह ही एक सफल व्यग्य उपन्यास की शर्तों को पूरा करता हुआ दृष्टिगत होता है। जिन उपन्यासो म भगवती बाबू ने केवल सामाजिक आदर्शों पर कहानियाँ निर्मित की हैं उनम वे पूरी तरह विफलकाम रहे हैं। 'आखिरी दाँव' (१९५०) 'अपने खिलौने (१९५७), थके पाँव' (१९६४) 'रेखा' (१९६४) इसी प्रकार के साधारण उपन्यास है। चित्रलेखा' के समान ही भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र', 'सबहि नचावत राम गुसाइ', 'सीधी सच्ची बातें, हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासो म परिगणित किए जाने वाले उपन्यास हैं।

अन्य उपन्यासकार

आजादी के बाद स्थूल सामाजिकता की धारा, जो प्रेमचन्द की नकल करने वाले लेखकों के द्वारा आगे बढ़ाई गई थी, यद्यपि पूर्ववत प्रवाहित होती रही किन्तु उसके प्रति पाठकीय अभिरुचियो का अन्त हो जाने स उनको विशेष सम्मान प्राप्त न हो सका। इस लेखको ने गणना म योग्य प्रचुर सामग्री प्रदान करके भी श्रेष्ठ रचनाएँ देने की सामर्थ्य का परिचय नही दिया। भगवतीप्रसाद वाजपेयी इस काल म भी प्रेमचन्दयुगीन सामाजिकता का चित्रण ही करते रहे 'गोमती के तट पर' (१९५६), 'एक दो' (गुप्तधन) (१९५६) 'भूदान' (१९५४), उनसे न कहना' (१९५७) रात और प्रभात' (१९५७), 'सूनी राह (१९५६), 'विश्वास का बल (१९५५) 'सावन बीता जाए' इत्यादि इनके प्रमुख उपन्यास

हैं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव भी इसी कोटि के लेखक हैं जिनके निमजन (१६५०), 'बेकसी का मजार' (१६५६), 'विश्वास की वेदी पर' (१६६०), 'वदना' (१६६१), 'विषमुखी' (१६५८) 'वचना' (१६६२), 'वरदान' (१६७१) आदि उपन्यास आजादी के बाद सामने आए। इसी भाँति गोविन्द वल्लभ पत का 'नूरजहाँ (१६४६), ऋषभचरण जन का 'वह कौन थी' (१६५५), उषादेवी मित्रा के 'पथचारी (१६४६), 'साहनी' (१६४६), 'नष्टनीड' (१६५८), 'वचन का मोल' (१६५६) कचनलता सब्बरवाल के 'मूक तपस्वी' (१६४६), 'नया मोड' (१६६१), स्नेह के दावेदार' (१६६२), इत्यादि इसी प्रकार की सामाजिकता से आक्रान्त उपन्यास हैं जो स्वातन्त्र्योत्तर काल म सामने आए।

इस कोटि की सामाजिकता से प्रेरित होकर लिखने वाले के कुछ अन्य लेखक भी महत्त्वपूण है जिन्होने आजादी के पश्चात परम्परित लेखन म एक ओर सास्कृतिक गरिमाओ को समेटने की चेष्टा की तो दूसरी ओर बुद्धि के आधार पर नूतन सामाजिक दशाओ का विवेचन विश्लेषण कर उन्ह कथा का विषय बनाया। श्रीगोपाल आचाय, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र, विष्णु प्रभाकर, अनन्त गोपाल शेवडे, मन्मथनाथ गुप्त इत्यादि इसी परम्परा के लेखक हैं।

श्रीगोपाल आचाय इस पीढी के अत्यन्त महत्त्वपूण उपन्यासकार हैं। अपने उपन्यासो म सामाजिक परिदृश्यो को साकार करने के लिए एक शाधार्थी के रूप म सक्रिय होकर रचनाकम करते है। बौद्धिक जागरुकता एव चिन्तन की पूण क्षमता से उपन्यासो म स्थितियो का विश्लेषण कर उनके उभयपक्षी स्वरूप को पाठको के समक्ष उजागर करने म पूण सक्षम है। विद्रूपतम वतमान के यथाथ को चित्रित करते हुए भी लेखनी के अपूव सयम का परिचय देते है। कला के मूत आधारो को उपकरण के रूप म उपयोग करते हुए कथा की चारुता को सवद्धित करते हैं। आजादी से पहिले मजु (१६४२) व विपथगामी (१६४२) लिखकर पूण प्रतिष्ठित हो चुके थे। आजादी क उपरान्त आपने न्यायालयो के दूषित वातावरण को स्पष्ट करने के लिए 'याय तीथ (१६७१) तथा राजनीतिक जीवन की निराधार आचरणगतता को उजागर करने के लिए यायमूर्ति (१६७३) जसे उपन्यास लिखे है। आम्रपाली' की कथा को नए कोण से 'आम्रपाली' उपन्यास म प्रस्तुत कियाहै। कामशास्त्र को आधार बनाकर लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'रतिप्रिया' (१६८०) आपकी विशिष्ट रचना है। 'छाया पुरुष' (१६४७) 'निवसना (१६६५) आपके अन्य उपन्यास ह।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने प्रेमचन्द काल म ही नग्न यथाथ को उपन्यासो का विषय बनाकर युगीन परम्परा के विरुद्ध बगावत की थी। तल्खी, उग्रता, सहारक भाषा एव प्रयोगधर्मिता का जो दौर आजादी के बाद नवलेखन व उत्तरवर्ती लेखकों के द्वारा अधिक विस्तार को प्राप्त हुआ उसके प्रवतक उग्रजी कहे जा

सकते है। प्रेमचन्द काल म ही ये काल्पनिक आदर्शों से परे हटकर उपन्यास के कथानक को कटु तिक्त, यथाथ पर अवस्थित करने म पूण सफल रहे थे। आजादी के बाद इनका इसी लेखन परम्परा पर आधारित उपन्यास फागुन के दिन चार (१९५५) सामने आया।

विष्णु प्रभाकर 'निशिकात' (१९५५), 'तट के बधन' (१९५५), कोई तो' (१९७९), अनन्त गोपाल शेवडे 'कोरा कागज' (१९७१), मन्मथनाथ गुप्त 'दुश्चरित्र' (१९४६), 'अवसान (१९५०), 'नया सवरा, रैन अँधेरी' (१९५९) 'षडयन्त्र (१९७१) 'रात और दिन (१९७५) इत्यादि भी इसी पीढी के लेखक है जिन्होंने आजादी के आसपास लिखना शुरू किया लेकिन जो मूल्यवादी दृष्टि कोण को लेकर चिन्तन एव लेखन के धरातल पर पूववर्ती पीढी स अधिक जुडे हुए है।

यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र न सामन्ती आचरण के अन्तर्विरोधो को अपने उपन्यासो का विषय बनाया। सामन्ती समाज क दोषो को एव उनके विरुद्ध पाठक की चेतना को उदबुद्ध करने के लिए खम्मा अन्नदाता', 'ढोलन कुजकली जैसी रचनाएँ प्रस्तुत की। 'एक और मुख्यमन्त्री राजनीतिज्ञो के सदोष आचरण को सामयिक परिप्रेक्ष्य म साकार करता है। नयना नीर भरे', 'सावन आखो म' 'आदमी बैसाखी पर' जैसे उपन्यास मध्य वग की सामाजिकता पर आधारित रचनाएँ है।

ऐतिहासिक उपन्यास

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो के सवधक लेखक कहे जा सकते है। इनस पूव म भी इतिहास की घटनाओ को आधार बनाकर उपन्यास लिखने की परम्परा हिन्दी म विद्यमान थी किन्तु वह साहित्यिक चारुता प्राप्त करने की सामथ्य अर्जित नही कर पाई थी। वृन्दावन लाल वर्मा ने स्वतन्त्रता के पूव से ही ऐतिहासिक उपन्यास लेखन को वास्तविक दिशा प्रदान कर दी थी। आजादी के पश्चात भी इन्होने श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासो का सजन कर हिन्दी उपन्यासो म प्रस्तुत किए जाने वाले वतमान के यथाथ के साथ-साथ विगत के यथाथ को भी प्रस्तुत किया। इनके उपन्यासो म इतिहास की अपनी सम्प्रेषित करने की क्षमता कथा का आश्रय ग्रहण कर अधिक प्रभावोत्पादक बन गई है। मगनयनी' (१९५०) जैसा श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर इन्होने ऐतिहासिक उपन्यासो को भी यथाथ की जमीन पर खडा किया। 'कचनार (१९४७), 'अहिल्याबाई (१९५५) 'माधवजी सिंधिया (१९५६), भुवन विक्रम (१९५७), 'रामगढ की रानी (१९६१) महारानी दुर्गावती (१९६४) इत्यादि इनके अन्य ऐतिहासिक उपन्यास है। इतिहास से जुडाव रखने वाले उपन्यासो से इतर यथाभूमिया वाले इनके अन्य उपन्यास भी इस काल

मे सामने आए जिनमे 'अचल मेरा कोई' (१९४८) 'अमरवल' (१९५३), 'टूट काँटे' (१९५४) इत्यादि उपन्यास प्रमुख है।

चतुरसेन शास्त्री प्रेमचन्द काल से ही उपन्यास लिखते आ रहे थे। आजादी के बाद इन्होने सास्कृतिक ऐतिहासिक एव सामाजिक सभी प्रकार का विपुल उपन्यास साहित्य प्रस्तुत किया। वैशाली की नगरवधू (२ भाग) (१९४९), सोमनाथ (१९५४), सोना और खून (४ भाग), गोली (१९६१) इत्यादि इनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं। वयरक्षाम (१९५५) रावणकालीन सस्कृति पर आधारित उपन्यास है तो खग्रास (१९६०) साइसफिक्शन की कोटि मे रखा जा सकने वाला उपन्यास है। इनकी अन्य रचनाएँ 'सह्याद्रि की चट्टानें' (१९६०), 'नरमेध' (१९५०) पत्थरयुग के दो बुत (१९५६) आजादी के बाद ही सामने आई।

राहुल सांकृत्यायन भी ऐतिहासिक यथार्थ को चित्रित करने वाले उपन्यासकार है जिनके जय यौधेय' (१९४६) विस्मतयात्री (१९५५), 'मधुर स्वप्न (१९५०), 'भागो नही, दुनिया को बदलो', 'राजस्थानी रनिवास' (१९५३), सोने की ढाल, 'जो दास थे' इत्यादि मौलिक अनूदित उपन्यास इस काल मे सामने आए।

छठे दशक से सामयिक यथार्थ के प्रति आकर्षण प्रबल हो जाने के कारण विगत घटनाओ पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यासो के प्रति आकर्षण का भाव कम हो गया। वर्तमान के सत्य को चित्रित करने वाले लेखक इतिहास के परिसमाप्त सत्या से मुह मोड बठे। इस कारण आजादी के बाद ऐतिहासिक उपन्यासो की धारा क्षीण होकर गौण महत्त्व को प्राप्त कर गई। किन्तु सातवें आठवें दशक मे ऐतिहासिक उपन्यास फिर लिखे जाने लगे और भिन्न ऐतिहासिक घटनाओ को कथा का विषय बनाया जाने लगा।

सास्कृतिक धारा के उपन्यास

आजादी की लडाई के दौरान भारतीय सस्कृति एक विशिष्ट जीवन मूल्य बनकर उभरी। उसके प्रति तीव्र आकर्षण का या उससे असहमति रखने वालो मे उसके प्रति तीव्र विकर्षण का भाव उदित हुआ। विदेशी शिक्षा भारतवासियो को अपनी सस्कृति से काटकर भौतिकवाद पर आधारित पश्चात्य सस्कृति से जोडने लगी। मध्ययुगीन सामाजिक आपाधापी के कारण उभर आई सास्कृतिक जडता भी अपने आप मे विकारग्रस्तता का कारण बनी। रूढियाँ, अंधविश्वास, अज्ञान सस्कृति को दूषित करने लगे। इस सास्कृतिक अगति को दूर करने के लिए पुनजागरण की भावना तेजी से विकसित हुई जिसकी प्रतिच्छाया साहित्य मे सास्कृतिक उपन्यासो मे उदित नवीन प्रवत्ति के रूप मे दष्टिगत हुई। रागेय राघव ने मुर्दो का टीला, लिखकर सिन्धुघाटी की सभ्यता को कथा का आधार बनाया। चतुरसेन

शास्त्री ने 'वयरक्षाम' में रावण कालीन जीवन की संस्कृति को चित्रित किया। किन्तु इस धारा को सशक्त आधार प्रदान करने का श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को है।

द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) के माध्यम से सांस्कृतिक उपन्यास लेखन की परम्परा का सूत्रपात किया। इस रचना के माध्यम से द्विवेदी जी अचानक उपन्यास जगत में प्रविष्ट हुए और मानवतावादी दृष्टिकोण के व मनुष्य की अंतर्निहित रागात्मिका वृत्ति के प्रचारक बन गए। इनके उपन्यासों में भारतीय संस्कृति के आधारभूत नियामक तत्त्व साकार होकर उपस्थित हुए। बाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षवर्धनकालीन जीवन की धार्मिक, सामाजिक जीवन के विविध रूप कथा का आधार लेकर उपस्थित हुए हैं। मानवीय आस्थाएँ, नारी चेतना के उन्नायक अनुभव एवं अदृप्त प्रेम भावना इस उपन्यास को प्रभावशाली स्वरूप प्रदान करते हैं। संस्कृति के गरिमामय पक्षों को द्विवेदी जी ने विविध काल खण्डों की कथा सृष्टियों के माध्यम से वर्णित किया है। आजादी के बाद भी इन्हीं कथा आदर्शों पर द्विवेदी जी ने उपन्यास लिखकर हिन्दी में अपने ढंग की अनूठी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। चारुचन्द्रलेख (१९६३) महाराज सातवाहन के युग पर आधारित शुद्ध सांस्कृतिक उपन्यास है। पुनर्नवा (१९७३) चौथी शताब्दी के लोक जीवन के निकट रहकर कौली य के कथान्शों मिथक को तोड़ता है। जनक्रान्ति का सामान्यजन आश्रित स्वरूप इसमें वर्णित होकर सजीव हो सका है। अनामदास का पोथा (१९७६) रैक्व ऋषि के पौराणिक आख्यान पर आधारित उपन्यास है। जीवन के नियामक आधार बिन्दुओं की तात्त्विक व्याख्या के रूप में उपस्थित किए जाने के कारण सिद्धान्त पक्ष इसमें अधिक प्रबल हो गया है। विचारों से दबी रहकर रचना उस औपन्यासिक आकर्षण से विरत हो गई है जो कि बाणभट्ट की आत्मकथा में अपने चरम रूप में उपस्थित है। द्विवेदी जी की प्रतिभा जैसे सांस्कृतिक उपन्यास बाद में नहीं लिखे जा सके इस कारण यह धारा आजादी के बाद उनसे इतर लेखक के द्वारा पोषित नहीं की जा सकी। हजारीप्रसाद जी ने अदम्य प्रेम भावना से, मिथकीय कथाधारों से लोक सम्पृक्ति से, धार्मिक आचारों-विचारों के चित्रण से, उदार मानवतावादी दृष्टिकोण से, उद्दाम नारी चेतना से यत्र तत्र उपस्थित सामयिक जीवन संदर्भों से अपने उपन्यासों के कथानकों को सशक्त एवं प्रभविष्णु बना दिया है। इस कारण इनके उपन्यास संस्कृति को आधुनिक जीवन प्रसंगों से जोड़ने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। रांगेय राघव का मुर्दों का टीला भी इस कोटि का श्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें सिन्धुघाटी की सभ्यता के उच्च आदर्शों को कथा के माध्यम से पुनरुज्जीवित किया गया है। नरेन्द्र कोहली ने आठवें दशक में राम के ज्ञात कथानक को नवीन दृष्टि से समन्वित कर उन्हें अपने उपन्यासों में प्रकट किया है। दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर, युद्ध भाग एक

एव युद्ध भाग दो इन पाँच खण्डो म यह कथा (बौद्धिक दृष्टि स) प्राचीन आख्यान का तकसगत रूप देने मे पूण सफल हुई है।

सास्कृतिक उपन्यास लेखन की परम्परा आजादी के पश्चात अधिक विकसित नही हो सकी। जिन मूल्यो पर प्राचीन सास्कृतिक जीवन अवलम्बित था व समाप्त हो गए। आध्यात्मिकता को पूरी तरह नकार कर मानव जीवन अब भौतिकवाद के सत्य को स्वीकार कर अग्रसर होने लगा। इस कारण उन आदर्शों का चित्रण पाठको की जिज्ञासाओ का आधार को बैठा। हजारीप्रसाद जी जसी प्रतिभा वाले लेखक न उन वजनाओ के रहते हुए भी कथा भूमियो म आधुनिक ज्वलन्त समस्याओ का सन्निभत करते हुए सास्कृतिक उपाख्यानो को निर्जीव तत्वो से मुक्त कर दिया था। किन्तु अन्य लेखक उस प्रतिभा का सस्पश नही कर पा रहे थे अत उन्होने आधुनिक जीवन प्रसगो को ही उपन्यासो का विषय बनाकर प्रस्तुत किया।

व्यक्तिवादी उपन्यास

प्रेमचन्द परम्परा से असहमति रखने वाले एक वग के लेखको के सम्वादी स्वरो का आधार व्यक्तिवादी मानदण्डो पर आधारित मान्यताएँ थी। इस कोटि के उपन्यासकारो न उलझी सामाजिक स्थितियो म निर्व्याज जीवन हेतुओ को व्यक्ति के कोण से चित्रित करने की चेष्टा की। समाज के स्थूल स्वरूप स व्यक्ति तक पहुँचने की प्रवृत्ति को अस्वीकार कर व्यक्ति के सदभ म सामाजिकता को देखन परखने का इन्होने प्रयास किया। व्यक्ति की एषणाएँ, महती आकाक्षाएँ, अह भावना एव निजता सामाजिक नतिक अवधारणाओ स टकराकर अन्ततोगत्वा व्यक्ति के लिए जीवनहता दशाओ की ही सृष्टि करती है। व्यक्ति चेतना को प्रश्रय देन वाले य लेखक उसकी समझौतापरस्ती को, स्वतन्त्रता प्राप्ति की अभिट प्यास को, मूल्यहीन जीवन दशाओ म व्यक्ति की भवितव्यता को उपन्यास का विषय बनाकर प्रस्तुत करते हैं। इस कारण व्यक्तिवादी उपन्यासो का दौर हिन्दी म तब शुरू हुआ जब नतिक मूल्यो म ह्रास आया। मूल्यहीनता चरम रूप म उपस्थित हुई और जड आदर्शों के प्रति व्यामोह समाप्त होन लगा। तब व्यक्ति चेतना सामूहिकता से मुक्त होकर उपन्यासो म प्रस्तुत हुई।

आजादी के पश्चात इस कोटि का लेखन तीव्रता स विकसित हुआ। समष्टि चेतना के सवाहक चरित्रो के नियामक पहलुओ म व्यक्तिवाद एक अनिवार्यता बनकर उपस्थित हुआ। अज्ञेय न शेखर एक जीवनी (दो भाग) क द्वारा इस प्रकार के उपन्यासो का हिन्दी म समारम्भ किया। शेखर म अस्वीकार का स्वर अत्यत प्रबल है। स्वतन्त्रता के अधिकारो के लिए वह आरोपित जीवन सारिणियो को नकार देता है और आत्म निणय का विशेष सम्मान दता है। अह भावना का वचस्व

उसके आचरण का नियामक पहलू बनकर सामने आया। इस प्रकार का पात्र, उसकी आचरणगतता, उसकी मानसिकता हिन्दी उपन्यास के लिए अनूठी बात थी जिसके प्रभाव से स्वातन्त्र्योत्तरकाल मे ऐसे चरित्रो पर आधारित व्यक्तिवादी उपन्यासो की हिन्दी साहित्य म एक बाढ-सी आ गई। परम्परित जीवनादर्श चरमराकर टूट गए, मूल्यो का आकर्षण समाप्त हुआ और जीवन की आपाधापी म व्यक्ति चेतना उपन्यासो की कथा का स्वीकार योग्य प्रियतम आधार बनी। उस शिक्षित वग का जो पाश्चात्य साहित्य के चवण से, उसकी मोहान्धता से ग्रस्त था इस कोटि के व्यक्तिवादी उपन्यास अधिकाधिक आकर्षित कर सके। अत शुद्ध व्यक्तिवादी उपन्यासो के साथ साथ इतर प्रवत्तिया वाले उपन्यासो म भी व्यक्ति चित्रण म इस प्रकार की प्रवत्तियो का विकास हुआ।

'शेखर एक जीवनी' की ही परम्परा मे आजादी के पश्चात अज्ञेय का नदी के द्वीप (१९५२) उपन्यास सामने आया। वस्तुत बुनावट की दृष्टि से ही नही चरित्र प्रकृति, कथ्य की नियामक उपपत्तियो, कथानक के विकास सूत्रो, व्यक्ति निर्माण कला के आदर्शो एव भाषा शिल्प रचाव सभी दृष्टियो से नदी के द्वीप अज्ञेय के ही शेखर एक जीवनी का आगामी भाग प्रतीत होता है। भुवन के रूप म शेखर का यह नवीन सस्करण अर्तहित व्यक्ति चेतना का एव सामाजिक वजनाओ की स्वीकृति निषेध के मध्य अपनी अस्मिता के पुनर्स्थापन की चेष्टाओ का सुन्दर आलेख है। फिर भी नदी के द्वीप की सफलता इस बात को लेकर अधिक है कि इसम लेखक के वैचारिक आग्रह कम हुए है इसलिए कथा की विश्वसनीयता इसम असदिग्ध रूप म प्रकट हुई है। व्यक्ति की सामाजिकता की परम्परित अवधारणाओ से असहमत होकर किए गए सघर्षो के चित्रण म बौद्धिक आग्रहो का मोह लेखक इस उपन्यास म भी नही छोड पाया है। अस्मिता की पहिचान को बनाए रखन के आभिजात्य प्रयास भुवन की भी निजता को परिभाषित करते हैं। कसी हुई भाषा, अभिव्यक्ति की चारुता एव चित्रण की बारीकी से नदी के द्वीप का शिल्प समकालीन अन्य उपन्यासो से नितान्त विशिष्ट होकर पाठको को आकर्षित करता है। इस शिल्प न हिन्दी उपन्यास के परम्परित ढाँचे को तोड दिया और नवीन शिल्प सम्भावनाओ को उजागर करन म मील के पत्थर का काय किया। अपने-अपने अजनबी (१९६१) पूणरूपण अस्तित्ववादी चिन्तन पर आधारित लघुकाय किन्तु प्रभावशाली उपन्यास है। मत्यु का उपस्थित प्रसग व्यक्ति की आन्तरिकता को उद्वेलित कर उसे अनूठे अनुभव जगत् म खीच ले जाता है इस विषय को ही कथा का आकार प्रदान किया गया है। इस प्रक्रिया म पडे हुए व्यक्ति के लिए अपने तो अजनबी और अजनबी अपने बन जाते हैं। मानवीय सम्बन्धो की यह आचरणगतता मृत्यु की गध स अपन निराडम्बर रूप म निर्विकल्प भाव से प्रस्तुत होती है। अपने-अपने अजनबी

व्यक्ति चेतना के इस रूप को आधार बनाकर व्यक्ति के निर्णय की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित अस्तित्ववादी धारणाओं पर प्रश्नचिह्न खड़े करता है।

अज्ञेय की रचनाधर्मिता कथ्य और शिल्प दोनों क्षेत्रों में पाश्चात्य उपन्यासों के अधिक निकट है। विदेशी साहित्य के संस्कारों से ग्रस्त शिक्षित पाठक वर्ग को इस कोटि के उपन्यासों ने अधिक आकर्षित किया। वस्तु भी प्रेमचन्दोत्तर काल में समुदित व्यक्तिवादी उपन्यासों की रचना प्रवृत्ति का तीव्र विकास हुआ। आजादी के पश्चात सभी उपन्यासों में व्यक्तिवाद का प्राधान्य हुआ। कथा पर पात्रों के व्यक्ति रूप को अभिव्यक्त करने की अन्य दृष्टि आरोपित हुई। मूल्यों के संदर्भ में दृष्टि का बदलाव, नवोदित जीवन स्थितियाँ, स्वातन्त्र्योत्तरकालीन परिवर्तित परिवेश, उलझी मानसिकताएँ, संश्लिष्ट आचरणगतताएँ, निराशावादी दृष्टिकोण टूटन, मोहभंग, प्रतिस्पर्द्धा, विघटनकारी सामाजिक दशाएँ, समझौता परस्ती आदि सभी ने उपन्यासों के पात्रों की निर्वैयक्तिक आचरणगतता को समाप्त कर इकाई रूप में उसकी पहिचान के प्रयासों को अधिक विस्तार दिलाया। इस कारण व्यक्तिवाद उपन्यासों की चरित्र संरचना का एकमेव आधार बना। व्यक्तिवादी उपन्यासों को आजादी के पश्चात पूरी तरह काटकर स्वतन्त्र परम्परा के रूप में देखा नहीं जा सकता। और यद्यपि आजादी के पश्चात ही लेखन कार्य का समारम्भ करने वाले लेखकों की एक बहुत बड़ी जमात व्यक्तिवादी उपन्यासों के अंतर्गत खड़ी देखी जा सकती है लेकिन यहाँ उनकी चर्चा न कर सिर्फ उन लेखकों की चर्चा करना संगत है जो आजादी के पूर्व ही इस प्रकार के उपन्यास लिखने लगे थे।

डा० देवराज छायावादोत्तर काव्य चेतना के कवि के रूप में ख्यातनाम हुए किन्तु उपन्यासकार के रूप में भी इनकी प्रतिष्ठा कम नहीं है। व्यक्तिवादी उपन्यासों का प्रणयन कर इन्होंने मूल्यहीन जीवन दशाओं में व्यक्ति आचरण को निरूपित करने का प्रयास किया है। पथ की खोज (१९५१) मध्यवर्ग के खोखले आदर्शों को यथार्थ के धरातल पर प्रकट करता है। बाहर भीतर (१९५४) भी व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और परम्परागत सामाजिक आदर्शों के द्वन्द्व को प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। अजय की डायरी (१९६०) गहरे मनोवैज्ञानिक स्तर पर वैयक्तिक अनुभूतियों का चित्रण करता है। उपन्यास का संवादी स्वर उन सम्भावनाओं की खोज करना है जिनसे पुरुष की प्रेमानुभूतियाँ नारी का सद सम्बल पाकर पूर्णता को प्राप्त कर सकें। रोड़े और पत्थर (१९५८) दोहरी आग लपट (१९७३), भीतर का घाव उपन्यास भी ऐसे ही पात्रों की व्यक्ति चेतना को सामाजिक संदर्भों में मनोवैज्ञानिक आधारों पर वर्णित करते हैं। दूसरा सूत्र (१९७९) इन्हीं के लेखकीय आदर्शों से भिन्नता लिये हुए है। प्रौढ़ व्यक्ति की काम भावना व निजता को बनाए रखने के प्रयासों को इसमें वर्णित किया गया

है। प्रौढ व्यक्ति की आन्तरिकता के उद्घाटन से यह अपनी कोटि का विशिष्ट उपन्यास बन सका है।

प्रभाकर माचवे का लेखन पुरानी पीढी के लेखन के अधिक निकट है। चेतना प्रवाह का अधिक उजागर करने वाले इनके उपन्यास सोचे हुए कथानकों को ही अभिव्यक्ति दे पाए हैं और बिखरे बिखरे कथासूत्र के कारण विशिष्ट सम्मान नहीं प्राप्त कर पाए हैं। परन्तु(१९४१), जो, साँचा (१९५५), द्यूत कहा से कहा, द्वाभा, तीस चालीस पचास (१९७३), दर्द के पैबन्द (१९७४) किसलिए (१९७८) इनके उपन्यास है।

निष्कर्ष

आजादी के पश्चात हिन्दी उपन्यास को सामाजिक यथार्थों का सस्पर्श कराने वाली दिशाओं को प्रदान करने का प्रारम्भिक किन्तु उल्लेखनीय प्रयास उन लेखकों के द्वारा किया गया जो आजादी के पहिले से ही लेखन काय कर रहे थे। इनका चिन्तन, सोचने की दिशाएँ, मूल्यवादी दृष्टिकोण एव स्थापित आदर्शों पर ही मुख्यत अवलम्बित बनी रहो। आजादी की प्राप्ति के बाद का मनड मेघ, वैचारिक क्रांति, बदली हुई जीवन की दशाएँ इनके सोच को बहुत दूर तक प्रभावित नही कर सकी। शाश्वत जीवनादर्शो, चिरन्तन मूल्यो, आस्थावादी अवधारणाओ, परम्परित आचरण सरणियो मानवतावादी विचारो स सवलित इनके विचार व्यक्ति के स्तर तक नीचे उतरकर भी अन्ततोगत्वा समष्टि चेतना को ही फोकस म बनाए रहे। द्विधाग्रस्त पात्रो के च्युत मूल्यो, सश्लिष्ट वस्तु विन्यास का इनके उपन्यासो म अभाव ही है यद्यपि व्यक्ति चेतना, मूल्यहीनता, समस्याक्रा त नगरीय जीवन, नवागत आधुनिक चिंतन, बोध के नूतन आयाम बदली हुई सामाजिकता, बुद्धिवादी यथार्थो मुखता, विडम्बनामय जीवन स्थितिया, व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव आत्मनिर्णय की अमिट प्यास एव अह चेतना इनके उपन्यासो म बदलाव के अभिनव सकेता के रूप म उपस्थित होने लगी थी। तथापि इनकी मूल दृष्टि अनास्था, निराशा से ऊपर उठकर उन जीवन मूल्यो की ओर ही अग्रसर थी जो शाश्वत भाव से मानवीय आस्थाओ एव उसके परिपार्श्व म उसके आचरण को नियन्त्रित कर उसे सुनिश्चित दिशा प्रदान कर रहे थे।

इनके कथानक सामान्यत बहुदावार ग्रहण कर (एकपक्षीय दृष्टिकोण से ऊपर उठकर) विस्तृत कथा आयामो का चित्रित कर रहे थे। उदार मानवीय चिंतन के कारण इनके कथा विन्यास मे निर्वैयक्तिक सोच का स्वरूप अधिक परिलक्षित होता है। समस्याओ के यथार्थ तक पहुँचने के लिए इन्होंने तथ्य स कही ज्यादा सत्य को पकडने की चेष्टा की। इनके उपन्यास समस्याओ के

सामाजिक स्वरूप के व्यक्तिकरण की जगह व्यक्ति की समस्याओं का सामाजिकीकरण करने वाले उपन्यास बनकर उपस्थित हुए। इस प्रकार की रचना प्रक्रिया मे लेखक भोक्ता न बनकर द्रष्टा के रूप में सामने आया। त्यागपत्र, शेखर एक जीवनी, बाणभट्ट की आत्मकथा, कब तक पुकारूँ आदि उपन्यासों में लेखकीय छद्म प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होकर लेखक की संलग्नता के प्रत्यक्षीकृत स्वरूप से पलायन की सूचना देता है। जबकि अन्य उपन्यासो में भी यही स्थिति है। लेखक का द्रष्टापक्ष सायास अलिप्तता के कारण विन्यास में कथा में दूरी बनाए रखने का आधार बना। वह पात्रों की ही भाँति कथा पर अपनी पकड़ मजबूत रखते हुए भी अपनी निरपेक्षता की उद्घोषणा करता रहा। इसलिए व्यक्ति की सत्ता को प्रभावित करने वाली सामाजिकता को यह लेखक उस रूप में अधिक रुचि लेकर चित्रित करते हैं कि उसके साथ साथ स्थापित सामाजिक ढाँचे को भी समानान्तर भाव मे चित्रित करती चली जाए। व्यक्ति और सामाजिकता के बीच उभर आए अंतर्विरोध को या उनकी परस्पर विरोधी दिशाओं को इन लेखकों ने अपने बौद्धिक ज्ञान से कथा को बीच-बीच में विवेचित, विश्लेषित भी किया है। अतः इन लेखकों के उपन्यास सजन के मूल हेतुओं में यह बात सर्वाधिक महत्त्व रखती है कि इन्होंने अपने विचारों 'जीवनादर्शों, अनुभूत सत्यों, उपलब्ध तात्त्विक निष्कर्षों को प्रकाशित करने के लिए उपन्यासों की संरचना की।

प्रेमचन्द कालीन उपन्यास लेखन परम्परा की समस्याक्रान्तता से विद्रोह कर ये लेखक जिन मानवीय पक्षों को कथा में खींच ला रहे थे उसके उपकरण के रूप मे इनका यह बौद्धिक विवेचन इन उपन्यासों में देखा जा सकता है। जैनेन्द्र, अज्ञेय जैसे लेखकों की दृष्टि जहाँ कथा की कीमत पर अपने बौद्धिक ज्ञान का प्रदर्शन करने वाली रही है वहीं यशपाल, रांगेय राघव, हजारीप्रसाद द्विवेदी, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क इस दृष्टि से उतने अतिवादी विचारक लेखक नहीं हैं। लेखक का यह विचारक रूप बीच बीच में कथा को छोड़कर पारलौकिक विषय विवेचनाओं, तथ्यों के आधारों की छानबीनों के रूप मे अपने ज्ञान को बघारने के रूप में इनके कथानकों मे उपस्थित दिखाई देता है। ये प्रसंग ही वे स्थल हैं जहाँ कथा की हत्या होकर भी वे पाठक के लिए रुचिकर बन जाते हैं। इन्हीं के आकर्षणों में उलझा पाठक इनके वृहदाकार उपन्यासों को बिना ऊबे पढ़ जाता है। यद्यपि ये ही विवेचनाएं जहाँ लेखक की चिंतनधारा के प्रदर्शन के मोह से घिर जाती हैं वहाँ वे ऊबा देने वाली बन जाती हैं। आजादी के बाद के लेखकों ने जहाँ पाठकों से भी कतिपय अपेक्षाएँ पाली हैं। व आत्मारोपण के लिए कृति की अपेक्षा लेखक की निजता को भिन्न रूप में भी उपकरण बनाते रहे हैं। वैसी संकीर्णता इन लेखकों में नहीं है। इन्होंने कृति पर ही अपनी निर्भरता बनाए रखी। यद्यपि अपवाद रूप में अज्ञेय लेखक से इतर प्रयासों से

पाठकों को अपनी ओर खींचने में संलग्न रहे हैं। कृति का मूल्यांकन पाठका-समीक्षकों पर छोडकर लेखकीय कर्म मात्र से ही संतुष्ट रहने का भाव इनमें है (यद्यपि अनेक यहाँ भी अपवादी लेखक दिखाई देते हैं जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ उन्हें एक विशिष्ट हीनताजन्य साहस से संवलित कर देती है कि व और उनके उपन्यास दोनों ही पूर्ण परफेक्ट हैं निर्दोष हैं और जो कुछ कमियाँ हैं वे हिन्दी के अधकचरे समीक्षकों में हैं।) इनकी कृतियों की महनीयता इसी चिंतनधारा की सन्तुलित अभिव्यक्ति से निर्मित हुई है।

इन लेखकों के विचारों का आधार परम्परित मूल्य अधिक रहे हैं यद्यपि उनकी जड़ता विसंगतियों, अंतर्विरोधों को भी इन्होंने कथा का विषय बनाया है। उससे मुक्त होने का साहस इन लेखकों में कम ही दिखाई देता है। इसी कारण इन्होंने जो विषय उठाए हैं उनमें आजादी से पूर्व की जीवन दशाओं को ही समेटा जा सका है। उसी परम्परा में आजाद भारत के जीवन प्रसंगों को ही इनके द्वारा समेटा जा सका है। (यद्यपि नवलेखन के पक्षधर लेखकों ने इस कारण इन लेखकों पर जड मानसिकता के रीतिकालीन संस्कारग्रस्त लेखक होने का आरोप भी लगाया है।) आजादी के बाद उभर आई नवीन जीवन दशाओं, बोध के नूतन आधारों मूल्यहीन मान्यताओं के प्रति इनमें आशंकापूर्ण अवर्षण का भाव दृष्टिगत होता है। समाज केन्द्रित मूल्यवादी दृष्टि के कारण इनका लेखन व्यक्ति से ऊपर उठी हुई सामाजिकता का संस्पर्श न करके सामाजिकता से नीचे उतरे हुए व्यक्ति का संस्पर्श करता हुआ दिखाई देता है। इस रूप में इन्होंने समस्याओं के सामाजिक स्वरूप का व्यक्तिकरण न करके व्यक्ति की समस्याओं का सामाजिकीकरण किया है। इस कारण इनके उपन्यासों का व्यक्ति गौण होकर सामाजिकता के लिए समर्पित होता दृष्टिगत होता है। व्यक्तिवादी उपन्यास लेखन का सूत्रपात होने से इस प्रवृत्ति में यद्यपि ह्रास होने लगा तथापि व्यापक रूप में ये लेखक व्यक्ति चेतना से परिचालित न होकर सामूहिकता के साथ ही संलग्न रहे हैं। इनके पात्र प्रेमचंदकालीन उपन्यासों की भाँति निजता से धनी न होकर वर्ग-चेतना को प्रतिनिधित्व प्रदान करने वाले टाईप्ड पात्र तो नहीं कहे जा सकते। अलबत्ता उनमें निजता की अपेक्षा सामूहिक चेतना के समन्वित स्वरूप को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति अवश्य दिखाई देती है। वर्ग में बँटे स्टीरियो टाईप चरित्रों के बाहर आकर इनके चरित्र खुली हवा में सांस लेते दिखाई देते हैं। फिर भी व्यक्ति बनाम व्यक्तित्व के द्वन्द्व में इनका झुकाव व्यक्तित्व प्रधान चरित्रों को खडा करने की ओर अधिक रहा है। व्यक्तित्व के संघटक आधारभूत गुणों में इन्होंने परम्परा को छोडकर औदात्य तत्त्व को दूर करने की विफल चेष्टा की है। क्योंकि इनके चरित्र मानवीय दुर्बलताओं एवं इकाई रूप में व्यक्ति की लघुता को वाणी देकर भी मानवीय आस्थाओं और उदार सम्वेदनाओं को छोड नहीं

पाए हैं। इस प्रक्रिया म उनकी विश्वसनीयता असदिग्ध नही रह पाई है। लखन के इस अभाव को अपन विचारक स ढँकन म ये सफल रहे ह।

शिल्प पक्ष की दृष्टि से य लेखक परम्परागत रचाव को ही सँजोए रह। खुलासा दरर कहा तो प्रवत्ति इनम अधिक है (यद्यपि जन द्र न अभूतपूव मित प्ययता का और अनय न प्रयोगधर्मिता का कुशलतम प्रदशन भी किया है।) अश्क, भगवतीचरण वर्मा अमतलाल नागर लम्बे वणना स अयाचित प्रसग विस्तार देकर कथा के कलेवर को बढाते रहे हैं। विशाल पैमाने पर कथा की बुनावट के कारण अवातर कथानको, स्फुट प्रसगो, नाटकीय घटनाओ से शिल्प का सहेजन की प्रवत्ति इनम दिखाई दती है। य लेखक शिल्प सजगता का परिचय देकर भी उसे उतनी सश्लिष्टता नही दे पाए है जिनस कथा का समन्वित प्रभाव पाठको पर पड सके। विस्तार और विखराव इनक शिल्प दोष बन गए है। शिल्प को लेकर नए नए प्रयोगो क सकेत भी इनसे प्राप्त होने लगे थ। कथ्य के प्रति अतिशय सलग्नता एव उसके यथोचित समग्र, सायास, बहुआयामी स्वरूप म अभिव्यक्ति की चेष्टाओ म इन्हान उपन्यास के शिल्प को अधिक सम्मान नही दिया है। जनय ही एतद् विषयक स्वतन्त्रता को लकर प्रयोगधर्मिता के रूप म परम्परा प्रवतक कहे जा सकत ह।

नवबोध को सामने लाने वाले लेखक

आजादी स पहिले प्रयोग को ही कथ्य का आधार बनाकर कविता का जो प्रयोगवादी स्वरूप निर्मित हुआ और जो आजादी के बाद तक आते आते नई कविता म परिणत हो गया उसका प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओ पर भी परिलक्षित हुआ। प्रयोगवाद से नई कविता की समूची काव्य यात्रा इस मान्यता पर टिकी हुई थी कि परम्परित जीवन मूल्य, उनकी मिथकीय अवधारणाएँ बदली हुई जीवन दशाओ म अथहीन और बमानी हो चुकी है। परम्परित चिंतन पर प्रश्नचिह्न खडे किए गए और उनके प्रति प्रबल अस्वीकार का भाव सामन आया। नवोदित बोध अब साहित्य का प्रबलतम प्रेरक बना और उसके परिपाश्व म अब सजन कम का समारम्भ हुआ। कविता की ही भाति आधुनिक बोध की पक्षधरता कहानी मे नई कहानी के रूप म, नाटक के क्षेत्र म नव नाटक के रूप म एव गीतो के क्षेत्र म नवगीत के आन्दोलन के रूप म उभरकर सामने आई। आजादी के बाद कथाकारो का एक ऐसा वग उपन्यास के क्षेत्र मे भी सक्रिय हुआ जो समवर्ती रचनाकर्मियो की भाति आधुनिकता को उसी तज पर सम्मान दे रहा था और लेखन के स्तर पर नवीनता क साथ पूणत प्रतिबद्ध था। यद्यपि नवोप यास के रूप म छेडा गया यह आन्दोलन उस रूप मे सफल नही हो पाया जिस रूप म नई कविता या नई कहानी के आन्दोलन सफल हो पाए थ तथापि

उपन्यास में भी नवीनता से आने का तीव्र आकर्षण इस समय सामने आने वाली नवोदित पीढ़ी में पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है।

यह नवीनता बहुत कुछ उन जीवन स्थितियों पर आधारित थी जो सुचिंतित वैचारिक मान्यताओं का परिणाम थी और जो आजादी की सुदीर्घकालीन संघर्षरत प्रयासों की फलरूप स्थित आशाओं, विश्वासों, आस्थाओं के मोहभंग को लेकर सामने आई थीं। मोहभंग की यह त्रासद अनुभूति विदेशी साहित्य एवं जीवन स्थितियों के निकट के सम्पर्क के अलावा देश में ही पनपने वाली अभिनव जीवन दशाओं यथा बँटवारे की हिंसक विभीषिका, शहरीकरण, भौतिकवाद भीड़तन्त्र, एकाकीपन, बेकारी, भ्रष्टाचार, अर्थाभाव, राजनीतिक दोहरापन, मशीनीकरण औद्योगिकीकरण, युद्ध, भ्रष्टाचार, घोर कुण्ठाएँ अपूर्ण आकांक्षाएँ, बढ़ती जनसंख्या, बिखरी जिन्दगी, विकास की परियोजनाएँ, बेवस समझौता-परस्ती, स्वार्थकेंद्रित आचरणगतता आदि का परिणाम थी। नवोदित बोध के इस स्वरूप को इन नए लेखकों ने चिंतन के विशिष्ट सत्य के रूप में स्वीकार किया और उसे उपन्यास लेखन के प्रेरक रूप में मान्यता प्रदान की। नवबोध एवं आधुनिकता की अवधारणा को गहन भाव से स्वीकार करते हुए इन्होंने इतर लेखन दिशाओं का अस्वीकार किया। यहाँ तक कि बोध से असम्पृक्त इतर लेखकों का नकारने की चेष्टा में इन्होंने पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखकों को आड़े हाथों तक लिया है। उन्हें पलायनवादी बतलाते हुए उनको नैतिकवाद, आदर्शवाद के रूप में झुठलाई गई मान्यताओं को उपपादित करने वाले लेखक सिद्ध किया। ये अभिनव परम्परा के प्रवर्तक, सूत्रधारों के रूप में स्वयं को स्थापित करते हुए इन लेखकों ने यथार्थ को उसकी समस्त विडम्बनापूर्ण विसंगतियों के साथ उसके विद्रूपतम रूप में यथा में अंगीकार किया। यह प्रयोगधर्मिता कविता की ही भाँति नवलेखन आन्दोलन के भागीदार के रूप में उपन्यास के क्षेत्र में पहली बार इसी काल में दृष्टिगत हुई।

इस समय हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में उसके सर्जनात्मक पक्ष का नियामक करने वाली कई नवीन बातें दिखलाई पड़ी। उपन्यास लेखन लेखक का वैयक्तिक प्रयास भर न होकर एक सुचिंतित आन्दोलन के सामूहिक प्रयास का भागीदार बनकर सामने आया। अपने कृतित्व के माध्यम से स्थापित होने के प्रयासों की अवहेलना कर अपने व्यक्ति को स्थापित कर लेखन को चर्चा का विषय बनाये जाने का उपक्रम किया जाने लगा। अपने को स्थापित करने के लिए नवलेखन का आन्दोलन खड़ा कर सामूहिक प्रयासों का समारम्भ हुआ।

'भोगा हुआ यथार्थ', 'अनुभूति की प्रामाणिकता' नारों के रूप में उछाले जाकर समग्र नवलेखन आन्दोलन के आधार बने जिनसे उपन्यासकार भी अपने जुड़ाव का संकेत देने लगा। यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए नए-नए

क्षेत्र उपन्यासों का विषय था और उन्हें नवीनतम शिल्प उपकरणों से सुसज्जित करने के प्रयास शुरू हुए।

इस समय जो एक और नवीन बात उपन्यास के रचनाक्रम को प्रभावित करती नजर आती है वह इतर साहित्य प्रयासों को उपन्यासों में ग्रहण करना है। उपन्यासकारों ने अपने आपको उपन्यास लेखन कर्म तक ही परिसीमित रखने की जगह उससे आगे बढ़कर समीक्षक की भूमिका निभाने का दुस्साहस भी किया। समीक्षक बनकर इन लोगों ने सायास अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने की सफल चेष्टाएँ की। पूर्ववर्ती पीढ़ी के कृतित्व को अस्वीकारने, अपने रचना प्रयासों के वैशिष्ट्य को उभारने, नवलेखन आन्दोलन के वैचारिक पहलुओं को उजागर करने के अलावा समवर्ती लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए इन्होंने उपन्यासकार-समीक्षक की दोहरी भूमिका निभाई। समीक्षक के रूप में इनकी रणनीति कबीर की खण्डन मण्डन शैली की तर्ज पर निर्मित हुई जिसके अंतर्गत पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखकों पर तीव्र कटाक्ष किए गए, छीटाकशी करते हुए उनकी अवमानना भर्त्सना की गई उन्हें पलायनवादी, खोखले आदर्शों वाले, विगत मानसिकता के चितेरे लेखक कहा गया। इसके विपरीत अपनी पीढ़ी के लेखन को सही दिशा में किए गए लेखन की संज्ञा प्रदान की गई। अपने लिए एक समानान्तर दुनिया की कल्पना की गई और अनदेखे अनजान तटों की खोज के प्रयास को प्राथमिकता दी गई। यों पूर्ववर्तियों का खण्डन करते हुए एवं सहवर्ती लेखन को ईमानदार प्रयास के रूप में स्थापित करते हुए तथा नवलेखन की पक्षधरता को वास्तविक युगीन यथार्थ एवं अपने आपको उसके आधिकारिक चितेरे लेखक के रूप में सिद्ध करने की चेष्टाएँ की गई।

ऐसे नवोदित साहित्य प्रयासों से हिन्दी उपन्यास में क्रान्तिकारी परिवर्तन अवश्य आया। यह परिवर्तन उपन्यास के कथ्य एवं शिल्प दोनों पक्षों को लेकर उपस्थित हुआ। कथ्य जहां अधिक ठोस और विश्वसनीय बना वहीं उसका संघटन अभिनव शिल्पिक स्थितियों से जुड़कर सामने आया। विगत प्रसंगों का पुनर्लेखन करने के रूप में पलायनवादी रुख अपनाने की जगह रचना कर्म के द्वारा एकदम सरोकार यथार्थ से जुड़ने के प्रयास शुरू हुए। आज के यथार्थ को ही कथा का विषय बनाया जाने लगा। उसके प्रति लेखक की रागात्मक संपृक्ति अतिशय आन्तरिकता लेकर समक्ष उपस्थित हुई। कविता या कहानी ही नवोपन्यास के रूप में उपन्यास की लीक से हटकर नवीन विधा की स्थापना के प्रयास तो यद्यपि सफल नहीं हो पाए किन्तु इससे उपन्यासों में आधुनिक बोध को कथा के रचाव में सर्वाधिक तरजीह दी जाने लगी। सामूहिकता की यह भावना कुछ लेखकों में सुविचारित थी जबकि अन्य हवा का रुख देखकर इस ओर आकृष्ट हुए थे। क्योंकि उपन्यास के लिए कथा उसके सुदीर्घ आकार एवं विस्तृत कथाफलक की

अनिवार्यता उपन्यास के 'तारसप्तकों' के सकलन देने में अवरोधक सिद्ध हो रही थी। इसलिए चर्चा परिचर्चा, कथा गोष्ठियों, सेमिनारों सम्मेलनों से इस अभाव की पूर्ति करने की चेष्टाएँ की गई।

इस प्रकार आजादी के बाद उपन्यासकारों की एक ऐसी नई पीढ़ी सामने आई जिसने नूतन परिवेश के सत्य को, आधुनिक बोध के नूतन आयामों को एव सामयिक व्यक्ति की हैसियत को उपन्यास का विषय बनाया। इनके द्वारा गृहीत आधुनिक बोध प्रादेशिक स्थितियों के आधार भेद के कारण अलग अलग रूपों में प्रकट हुआ जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं में देखा जा सकता है—

१ नगर बोध के उपन्यास
२ ग्राम्य चेतना के उपन्यास

नगर बोध के उपन्यास

शहरांचल के कथानक इस कोटि के नव लेखकों को सर्वाधिक आकर्षित कर सके। आजादी के बाद की उपस्थित पाश्चात्योन्मुखता ने शहर का आकर्षण पैदा किया। उद्योगों के विकास से, बड़े कारखानों की स्थापनाओं से, शहर में भीड़ की सृष्टि हो गई। इससे नगरीय जीवन की अपनी समस्याएँ उत्पन्न हुई। व्यक्ति का जीवन अधिकाधिक असुरक्षा और भय का शिकार हुआ। व्यवसाय एव यौन से आवास सम्बन्धित समस्याएँ अधिक विकराल हुई। महानगरों की अपनी दिनचर्या निर्मित हुई जिसमें अस्थिरता, प्रतिस्पर्द्धा, गतिशीलता एव दुर्घटनाएँ अतिपरिचित सत्य बनी। इस नवबोध को जो निराशा, अनास्था को प्रोत्साहित कर रहा था, इस पीढ़ी के लेखकों ने उपन्यास का विषय बनाया। विद्रूप सामाजिक यथार्थ को व्यथित, की स्थितियों से जोड़कर प्रस्तुत किया जाने लगा। आधुनिक चिन्तन की पश्चधरता व्यक्तिवाद, मनोविज्ञान, प्रगतिशील तत्वों में जुड़कर कथा का विषय बनी। इस वर्ग के लेखकों ने नगरीय जीवन के विविध क्षेत्रों को मूल्यों सस्कारशीलता, परम्परा प्रेम के परिपार्श्व में चित्रित किया। यद्यपि इस चित्रण में पूर्वाग्राही दृष्टि एव सत्य के नैकट्य की हठवादिता दिखाई देती है। और समय से पूर्व ही नगरीय जीवन में महानगरीय बोध को आरोपित करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है तथापि इनके द्वारा हिन्दी उपन्यास का एक सुदृढ़ आधारशिला एव नवीन दिशाएँ अवश्य प्रदान की गई। धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, नरेश मेहता आदि इसी कोटि के लेखक हैं।

नवबोध को आत्मसात् कर रचना कर्म में प्रवृत्त होने वाले लेखकों में धर्मवीर भारती अग्रणी लेखक कहे जा सकते हैं। यद्यपि सख्या में इनके उपन्यास बहुत कम है तथापि उनसे सम्बन्धित चर्चाओं के द्वारा वे इस धारा के प्रमुख लेखक के रूप में परिगणित हुए। इनके उपन्यास मूल्यहीन जीवन दशाओं में कर्तव्यच्युत उत्तराधिक

की भाँति भटकावग्रस्त व्यक्ति की आचरणगतता को प्रस्तुत करते हैं। इनका 'गुनाहों का देवता' (१९४६) मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोधपूर्ण मानसिकता का प्रकट करने वाला दस्तावेज है। चन्दर के रूप में सपनीली रोमांसपूर्ण युवा चेतना के (आदर्श-यथार्थ के) द्वन्द्व में उलझी विकल्पहीनता को वर्णित किया गया है। विगत आदर्शों के उत्साह से शुरू होकर कटु तिक्त यथार्थ पर समाप्त होने वाली आचरणगतता को, युवा रोमांस चेतना का एवं मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को इसमें अभिव्यक्त किया गया है। सूरज का सातवाँ घोड़ा (१९५२) हिन्दी का प्रथम प्रयोगधर्मी उपन्यास है। कथानक के स्थापित मिथकीय स्वरूप को पूरी तरह नकार कर इसमें अभिनव वस्तु व्यवस्था साकार की गई है। सात अलग-अलग कहानियों को केन्द्रीय पात्र माणिक मुल्ला अपनी उपस्थिति से जोड़कर रचना का एक अन्वित उपन्यास का स्वरूप प्रदान करता है। आजादी के बाद के भारत की परिस्थितियों में बाहर से स्थिर चुप्पी को धारण किए रहकर भी भीतर ही भीतर परिवार टूटकर बिखर रहे थे उस त्रासद मोहभंग से अभिप्रेरित होकर उपन्यास लिखा गया है। निम्न मध्यवर्गीय जीवन की बिखरावयुक्त, मूल्यहीन आचरणगतता को खोखलेपन के साथ प्रकट करने के लिए (सामाजिकता की स्थिर परतों को हटाकर) नग्न यथार्थ को बेनकाब किया गया है। इस रूप में सफल होकर भी कथा के स्थिर स्ट्रक्चर को तोड़ने वाले प्रयोगधर्मी उपन्यास से अधिक इस रचना का महत्त्व नहीं है। उपन्यास चौंकाता तो है चुभता नहीं है।

मोहन राकेश ने कुण्ठाग्रस्त आधुनिक जीवन के खोखले आदर्शों को, मूल्यहीनता के पीछे घिसटते चलते मानव के अकेलेपन को, दाम्पत्य सम्बन्धों में अहम्आश्रित तनावग्रस्तता को, व्यक्ति की बौनी अस्मिता को, एकाकीपन के त्रासदायक अनुभव को सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है। अँधेरे बन्द कमरे (१९६१) में आजादी के बाद की देश की बड़ी सांस्कृतिक गतिविधियों और राजनीतिक दावपेंचों के साथ पारिवारिक जीवन के बन्द होते कोनों को अभिव्यक्ति, प्रदान की गई है। दिल्ली को केन्द्र में रखकर सारे देश के सांस्कृतिक बदलाव के प्रदर्शित वितण्डावाद का पर्दाफाश करते हुए व्यक्ति के जीवन में उभर आई घुटन को इसमें प्रकट किया गया है। दाम्पत्य सम्बन्धों के तनावों हताश आकांक्षाओं की टूटन एवं सम्बन्धों के बिखराव के सूत्रों में उलझा व्यक्ति का अंतर्मन अँधेरी सीलन भरी कोठरी बनकर अपनी नियति को भोग रहा है यही उपन्यास का प्रतिपाद्य है। कृत्रिम जीवन का भोक्ता व्यक्ति परिस्थितियों की असंगति की उपज है यह कथा की दिशा है। व्यक्ति के भीतर की रिक्तता, असम्पृक्ति, समझौता-परस्ती, निराशाजनक पराजय उपन्यास के द्वारा सम्प्रेषित विचार बिन्दु है। इस प्रकार अँधेरे बन्द कमरे आजाद भारत के व्यक्ति के भीतर की छटपटाहट को वाणी देता है। 'न आने वाला कल' (१९६८) अस्तित्व की समस्या पर आधारित

उपन्यास है। निर्मूल्य जीवन स्थितियों के भोक्ता व्यक्ति निरे आत्म-केन्द्रित होकर कूपमण्डूकता को प्राप्त कर चुके है। निस्सहायता म एकाकीपन का अहसास उन्हे अपने-अपने दायरों म बन्द कर देता है कि वे दूसरे के अकेलेपन को महसूस ही नहीं कर पाते। सभी अपने वर्तमान को झुठलाए चलते हुए अनागत भविष्य से सन्त्रस्त हैं। पीड़ा का यह अकुलाहट पूर्ण स्वरूप मानवीय सम्बन्धो म दौर्बल्य पैदा कर व्यक्तिहता बन गया है। 'अन्तराल' (१९७४) वर्तमान मानवीय सम्बन्धों की आतरिकता पर आधारित उपन्यास है। असहिष्णु सम्बन्धो की रिक्तता के कारण जो व्याकुलताजनित अन्तराल उभर आते हैं उनसे कई बार बेमानी रिश्ते तो अपने और आतरिक सम्बन्ध अलगाव भरे हो जाते है उस स्थिरता को कथा का आधार से चित्रित किया गया है।

राजेन्द्र यादव का उपन्यास लेखन मृतमूल्यो के शव पर खड़ी सामाजिकता के अतर्विरोधो को प्रस्तुत करता है। मध्यवर्गीय समस्याओं को उपन्यासो का विषय बनाकर इन्होने उन दोषो को निर्विकल्परूप से प्रगतिशील मानदण्डो से ही परिष्कृत देखना चाहा है। इनके उपन्यास आज के ध्वसोन्मुखी मध्यवग के यथार्थ को उसके सडाधभरे लिजलिजे सम्बन्धो को वर्णित कर उनके परिष्कार का मन्तव्य प्रकट करते है। 'प्रेत बोलते है' (१९५२) इनका प्रथम उपन्यास है जो परिवर्तित नाम के साथ बाद म 'सारा आकाश' (१९६०) नाम से प्रकाशित हुआ। जडताग्रस्त विघटनशील मध्यवर्ग की ध्वसता को इसम उपन्यास का विषय बनाया गया है। इस समाज म रूढियो के प्रेत अवतरित होकर युवा आकाक्षाओ का गला घोटते रहते है और उनके वात्याचक्र म उलझा व्यक्ति निजता की पहिचान के लिए समस्त पारिवारिकता से कटता चला जाता है। परम्परित जीवनादर्शो के विनष्ट हो जाने पर वे ही महत्वहीन होकर बेमानी हो जाते है। 'उखडे हुए लोग' (१९५७) उन हेतुओं को केन्द्रस्थ बना सका है जो समूची व्यवस्था को तोड मरोड कर समाज मे केवल निर्मूल्यता को ही प्रोत्साहित कर रहे हैं। सामयिक जीवन के यथार्थ का समग्र आकलन कर राजनीति की धुरीहीनता को राजनेताओ के भीतरी जीवन की आधारहीन घिनौनी आचरणगतता को शोषिकी ताकतो की स्वार्थाश्रित हीनताओ को सकीर्ण मानसिकताओ को, विशृखलित जीवन दशाओ को उपन्यास मे प्रगतिशीलता के दुराग्रहो को छोडकर चित्रित किया गया है। लेखक अपनी जमीन से उखडे हुए लोगो की केन्द्रच्युत आपाधापी को सुन्दरता से प्रकट कर सका है यद्यपि उपन्यास मे युगीन यथार्थ का अपूर्ण एव खण्डचित्र ही समक्ष आ पाया है। इनका 'शह और मात' (१९६३) साधारण प्रेमकथा है तो 'अनदेखे अनजान पुल (१९६३) हीन भावापन्न कुरूप नवयुवती की मानसिकता को प्रकट करता है। मन्नू भण्डारी के साथ मिलकर लिखे गए इनके प्रयोगधर्मी उपन्यास 'एक इन्च मुस्कान'(१९६० ज्ञानोदय

में प्रकाशित) टूटे व्यक्तियों के खोखले आदर्शों की विफल प्रेम गाथा है। 'मन्त्रविद्ध' इनका अन्य उपन्यास है।

कमलेश्वर नवलेखन के प्रबलतम पक्षधर लेखक हैं। वैचारिक धरातल पर इस नव्य साहित्य आन्दोलन को धारण करते हुए इन्होंने साहित्य में वर्ग क्रान्ति एवं आम आदमी से जुड़ाव को प्रोत्साहन दिया है। एक लम्बी अवधि तक 'सारिका' के सम्पादक रहते हुए इन्होंने 'मेरा पन्ना' के रूप में अपने विचारों से इस आन्दोलन को तीव्र समर्थन प्रदान किया। अपनी पुस्तका में भी अपने समवर्ती लेखन के समक्ष पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखन को बौना कहने का प्रयास कर उसे अस्वीकारने का साहस भी इन्होंने किया है। किन्तु दुर्भाग्यवश इनके उपन्यास इनके विचारों की तरह उत्कृष्ट प्रभाव स्थापित नहीं कर पाए। यहाँ तक कि अपनी कहानियों की समता में भी कमलेश्वर उपन्यास जगत में अधिक सफल नहीं हो पाए। विफल साधारण प्रेम कहानियों को संजीदगी देने के लिए उन्हें सायास आधुनिक समस्याओं से आवेष्टित करने का प्रयास किया है। अपने लघुकाय उपन्यासों में ये रोमांटिक चेतना से इतर प्रकार के सामयिक जीवन मूल्यों की व्याख्या नहीं कर पाए हैं। विफल प्रेमकथा के सदर्भों में नर नारी सम्बन्धों की व्याख्या करने के उपक्रम में लेखक गैर रोमांटिक जीवनाधारों को बलात अस्वीकारता चलता है। नारी की पक्षधरता का कायल होकर भी लैंगिक सबंधों को ही कथा के फोकस में रखकर उनके समग्र प्रभाव को बिगाड़ गया है। डाक बँगला (१९६२), एक सड़क सत्तावन गलियाँ (१९६१) लौटे हुए मुसाफिर (१९६३), तीसरा आदमी (१९६४), काली आँधी (१९७४), आगामी अतीत (१९७६) इनके उपन्यास हैं। कथ्य की प्रेषणीयता की अपेक्षा लेखक फिल्मी फार्मूले भरने में अधिक सचेष्ट रहा है। नाटकीय तत्वों का सन्निवेश विन्यास के कौशल को प्रदर्शित करते हुए भी प्रभविष्णुता को प्राप्त नहीं कर पाए हैं। 'काली आंधी' में राजनीति के एक पहलू चुनाव को केन्द्र में रखकर उसके अँधेपन को प्रकट किया गया है। काली आँधी की तरह चुनाव और राजनीति अपने पराकाष्ठायुक्त भ्रष्टाचार के कारण सारे रिश्तों को तोड़ देती है सम्बन्धों को बेमानी कर जाती है, मानवीय संवेदनाओं को कुचलकर निरी जड़ महत्वाकांक्षाओं को उत्पन्न कर जाती है। 'आगामी अतीत' वेश्या समस्या के मूल हेतुओं को पकड़ने की चेष्टा में विफल प्रेमगाथा के विगत प्रसंगों को नाटकीय दृष्टि से क्रमशः पकड़ने के उपक्रम की कहानी है। कमलेश्वर के लिए लघु उपन्यास लिखना मानो उनकी नियति है और ये जीवन को कथा से अंकित करते हुए इतर प्रसंगों से उभर आए अंतराल को फिकरों आदि से पाटकर उन्हें एकमेक कर देने में कुशल हैं।

नरेश मेहता पहले कवि हैं फिर उपन्यासकार। इनका उपन्यासकार अपने

कवि स प्रेरणा लेता रहता है। जीवन की लय को पकडकर कथा सजना म प्रवीणता अर्जित कर इन्होंने उपन्यास लिखे है। डूबते मस्तूल (१९५४) म इन्होंने प्रयोग धर्मिता को ही उपन्यास लेखन का आधार मानकर यौन सम्बन्धों की विसगतियो को स्वाभिमानिनी नायिका की कथा के माध्यम स चित्रित किया है। किन्तु परवर्ती काल म इनका लेखन अधिक प्रौढ और गम्भीर प्रयासों पर [illegible] धारित हुआ। आस्था का स्वर अपेक्षाकृत गहराया उस दशा म भी [illegible] आस्थाओ, विश्वासो के टूटन को और इस कारण उभर आई [illegible] म चित्रित करते चले गए। नारी स्वातन्त्र्य की समस्या पर [illegible] उपन्यास डूबते मस्तूल के पश्चात इनका 'धूमकेतु एक श्रुति' (१९[illegible] [illegible] निर्माण के मूल हेतु रूप उपस्थित परिवेश के विरल तन्तुओं [illegible] सशक्त उपन्यास है। छोटी छोटी दीखन वाली साधारण [illegible] लायित होकर व्यक्तित्व को सस्कार और अनुभव [illegible] म उदयन के बाल्य जीवन के स्थिर दृश्यों से साक्षात [illegible] उपन्यास ध्वसोन्मुखी परम्परागत ग्रामीण सस्कृति, [illegible] ग्रामीण आचारगतता का समन्वित चित्र उपस्थित [illegible] (१९६२) विश्र खलित मध्यवग के सम्बन्धों [illegible] विश्लेषण करता है। नैतिक मूल्यो के प्रति [illegible] नदारी एक बोझ बन गयी है और [illegible] के माध्यम से ऐसे ही ईमानदार व्यक्ति के [illegible] चित्रित किया गया है। आदश का पद [illegible] के यात्री टूटन, उपक्षा, पीडा के [illegible] एकात' (१९६४) के चरित्र [illegible] वैज्ञानिक धरातल पर प्रेम के [illegible] (१९६७) 'धूमकेतु एक श्रुति' [illegible] वस्था की कहानी वर्णित हुई है। [illegible] स्मृतियों पर उपन्यास [illegible] (१९[illegible]) [illegible] कथा (१९७६) इनक [illegible] है

लिखते रहे। इस प्रकार का लेखन अपने समय की रूमानी लेखन मानसिकता की अपेक्षा नवलेखन आन्दोलन की निकटता लिये हुए था। लक्ष्मीनारायणलाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, मनहर चौहान, भारतभूषण अग्रवाल इत्यादि इसी कोटि के प्रमुख लेखक हैं।

लक्ष्मीनारायण लाल मूलत मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं। काले फूल का पौदा (१९५५) तुलसी के बिरवे के प्रतीक से आधुनिकता के फैशन और सनातन भारतीय आदर्श की टकराहट की कहानी है। 'बया का घोंसला और साँप' वातावरण की मुख्यता देने के कारण पेनोरेमिक उपन्यास बन गया है। 'मन वृन्दावन' ब्रज की यात्रा गाथा के समानान्तर भाव में प्रवाहित होने वाली अंतर्यात्रा की सफल कहानी है। इनके अन्य उपन्यास हैं—रूपाजीवा, शृंगार (१९७५) वसन्त की प्रतीक्षा (१९७५), देवीना, प्रेम एक अपवित्र नदी (१९७२) अपना अपना राक्षस (१९७३), हरा समन्दर गोपीचन्दर (१९७४)। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के सोया हुआ जल काठ की घण्टियाँ और उड़े हुए रंग (१९७४) प्रमुख उपन्यास हैं। मनहर चौहान का भारत पाक युद्ध पर आधारित युद्ध उपन्यास सीमाएँ (१९६६) नीरस लम्बे प्रसंगों एवं भाषणों से बोझिल होकर युद्ध के आतंक की सृष्टि नहीं कर पाया है। इनके अन्य उपन्यास हैं हरे ओम प्रकाश (१९७२) कोई एक घर (१९७३)। भारतभूषण अग्रवाल का लौटती लहरों की बाँसुरी (१९६४) भी इसी परम्परा का उपन्यास है। इस कोटि के उपन्यासकारों में कथ्य के सम्प्रेषण के लिए उतना सशक्त बौद्धिक आधार दिखाई नहीं देता जितना कि नवलेखन आन्दोलन के प्रवर्तक लेखकों में परिलक्षित होता है। यद्यपि आधुनिक जीवन स्थितियों पर इनकी पकड़ उतनी ही गहरी दिखाई देती है।

ग्रामीण जीवन का यथार्थ

नवलेखन आन्दोलन के शहरी यथार्थ से जुड़ने की प्रमुख प्रवृत्ति के समानान्तर भाव से ग्रामीण जीवन के यथार्थ को भी उपन्यासों में चित्रित किया जाने लगा। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के सत्य को वर्णित करने के लिए स्वानुभूत सत्य को उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया था। किन्तु प्रेमचन्द के बाद से ही उपन्यास शिक्षितों का जीवनाधार बनकर सिर्फ शहरी जीवन का व्याख्याता बनकर रह गया। गाँव या तो पूरी तरह अनुपस्थित रहा या फिर नाम भर के लिए कथा का आधार बनकर प्रस्तुत हुआ। शहर के कोण से गाँव को देखा गया उसके अपने सत्य को, उस समानान्तर जीवनक्रम को तथा उसकी निजता को केन्द्र में रखकर उपन्यास नहीं लिखे गए। आजादी के बाद की बदली दशाओं में जबसे ग्राम्योत्थान, सामुदायिक विकास कार्यक्रम कृषिविस्तार व

हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का ही नहीं, समस्त ग्रामीण जीवन के यथार्थ पर आधारित उपन्यासों का प्रेमचन्द के बाद नए सिरे से प्रवर्तन करने का श्रेय फणीश्वरनाथ रेणु का है। रेणु ने भारतीय जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित विस्तृत क्षेत्र को हिन्दी उपन्यास में प्रतिष्ठित कर साहित्य के खलने वाले अभाव की पूर्ति की। उनके बाद हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की एक बाढ़ सी आ गई।

आंचलिक उपन्यासों की लोकप्रियता ने अन्य लेखकों की कस्बाई मानसिकता शहरों में गाँव के अभिनव जुड़ाव के स्वरूप को एवं ग्रामीण यथार्थ को उपन्यास का विषय बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी प्रेरणा भित्ति पर आजादी के बाद के पहले दशक में ही उपन्यासों के रूप में अनेक जीवन्त चित्र अंकित हुए। इनके दृष्टि प्रयास प्रेमचन्द की तरह केवल समस्याओं के स्थूल स्वरूप को ही अंकित करते न लगाकर की अपेक्षा व्यक्ति तक उतर आए मनुष्य के रूप में सामने आए। करुणाप्लावित स्वर में उपेक्षित ग्रामीण जीवन का यथार्थ अब विस्तार से सामने आया।

इस प्रकार ग्रामीण जीवन का यथार्थ इस दशक से ही दो रूपों में सामने आया जिन्हें आंचलिक व ग्रामीण जीवन के उपन्यास शीर्षकों में देखा जा सकता है।

आंचलिक उपन्यास

फणीश्वरनाथ रेणु ने आंचलिक उपन्यासों का प्रवर्तन करते हुए जनपदीय जीवनक्रम को कथा के माध्यम से जीवन्तता प्रदान की। ग्रामीण जीवन की सन्धियों में दबी हुई अनुभवजन्य सम्वेदनाओं का तथा स्थानीय रंगों का क्रियात्मक चारुता के साथ उपस्थित कर रेणु ने उनमें प्राणों का संचार किया था। शहरी मध्य-वर्गीय जीवन की संकीर्ण, सड़ांध भरी गलियों के अवसादपूर्ण निरुद्देश्य भटकाव से दूर खींच ले जाकर रेणु ने हिन्दी उपन्यास को एक नवीन उन्मुक्त प्रदेश प्रदान किया। जिसमें खुला आकाश और धरती का फैलाव अपने पूरे सामर्थ्य के साथ उपस्थित था। अंचल का भौगोलिक विस्तार, संस्कृति की जन जीवन से जुड़ी हुई बहती धारा, राजनीति का जनाश्रित स्वरूप, बोध के नवीनतम आयाम अभिनव भावजगत् की सृष्टि कर नई दिशाओं का उन्मेष कर रहे थे। इनका 'मैला आँचल' (१९५४) हिन्दी उपन्यास साहित्य में धूमकेतु की तरह उदित हुआ और इस कारण अनुकूल-प्रतिकूल विचारों का केन्द्र बनकर इस काल के सर्वाधिक चर्चित उपन्यासों की पंक्ति में जा बैठा। युगों के दबाव से कुचले हुए ग्रामीण जीवन में आजादी के बाद से समुपस्थित नव विकास की सम्भावनाओं मात्र से उपस्थित तीव्र बदलाव को इसमें वर्णित किया गया है। बिहार के

एक गाँव मेरीगंज म नवजीवन के प्रवेश स हुए बदलाव का कथा का आधार बनाया गया है। इस दबाव ने समस्त सामाजिकता म उथल पुथल मचा दी, परम्परित आदश और पुराने मानदण्ड चरमरा कर टूट गए, नए आदश, नयी दृष्टि, नयी मान्यताएँ, नए प्रयास, नयी आस्थाएँ तेजी से उभर कर सामने आइ और आचलिक जीवन को अभिनव सस्कार दे गई। इस यथाथ को कथा मे जीवन्त करने के लिए रेणु ने भापा व शिल्प दोनो की विशिष्टिता से कथा को नूतन सस्कार प्रदान किया। मेरीगंज की इकाई रूप निजता उदात्त स्वरूप म समग्र भारतीय जीवन की प्रतिनिधि आचरणगतता बन गई। राजनीति के दनन्दिन जीवन से अखण्ड जुडाव को पूर्वाग्रही मतवादिता से दूर रखकर रेणु द्वारा उसे कथा की सहभागिता प्रदान करवाई गई। इस कारण मैला आँचल हिन्दी के क्लासिक उपन्यासो मे परिगणित हुआ। परती परिकथा' (१९५७) परती पडी जमीन को तथा उसे जोते जान के प्रयासा को प्रतीकात्मक ढग से वर्णित करते हुए जडता ग्रस्त ग्राम्य जीवन की रूढिया, परम्पराओ अधविश्वासो धर्माडम्बरो व मिथ्या भ्रमो के नवीन बोधा से सघप की कहानी को प्रकट करता है। यात्रिक प्रगति के इस युग म भी व्यक्ति निरा अनुभूतिशून्य होकर निर्जीव न रह जाए इसलिए ग्राम्य चेतना मे नव निमाण के आवेश को भरने के साथ साथ मानवीय आस्थाओ को पहिचानन के प्रयासा को प्रोत्साहित करने की चेष्टा भी की गई। परिवर्तित सदर्भो म व्यक्तियो की उत्तरोत्तर सश्लिष्ट होती मानसिक प्रक्रियाओ और नैतिक दबाव को सामाजिक, राजनीतिक आन्दोलना की पृष्ठभूमि म मनुष्य की आकाक्षाओ स जोडकर रेणु ने उनका हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया है। जुलूस (१९६५) म रेणु की लेखनी ने आचलिकता से आबद्ध एकागिता को तोडकर नई कथा जमीन ढूढन का प्रयास किया है। इसम पूर्वी बगाल से आए विस्थापिता के पुनर्वास की समस्या को तथा नूतन परिवश म उनके द्वारा अपन आपको समायोजित करन की जिजीविषापूण चेष्टाआ का प्रकट किया गया है। फिर भी रणु आचलिक शली के मोह को न छाड पान के कारण इसम तथा 'दीर्घतपा' (१९६३) एव 'कितन चौराहे' म अपन का लगभग दोहराते हुए स प्रतीत हात हैं।

रेणु के बाद आचलिक उपन्यास लेखन का तीव्र विस्तार हुआ और अनक लेखका न इस प्रवृत्ति के उपन्यास लिखकर इसका सवधन किया। नागार्जुन भी आचलिक उपन्यासकार कहे जा सकत है जिनका झुकाव कथ्य के सम्प्रेषण की दृष्टि से पूव वर्ती पीढी की ओर अधिक परिलक्षित होता है। प्रगतिशील चिंतन के कारण य यशपाल की परम्परा के लखक ठहरते हैं। लेकिन अपन विशिष्ट रचना कौशल, लघुकाय उपन्यासा, मार्मिक सवेदनाआ के कारण य स्वतत्र परम्परा का प्रवतन भी कर सके हैं। ग्रामीणजीवन से इनका रागात्मक जुडाव उपन्यास की कथा के साथ रेणु, के उपन्यासो की ही भाँति अनायास ही बह आया है किन्तु रेणु स भी उसकी गहराई

तरलता इनमें अधिक है। अपनी छोटी छोटी उपन्यास रचनाओं में निम्नवर्ग के विडम्बनामय त्रासद जीवन का एवं विसंगतिपूर्ण वर्तमान जीवन की विद्रूपता को तल्खी, आक्रोश के साथ चित्रित करने में नागार्जुन सिद्धहस्त हैं। व्यापकफलक पर अवलम्बित न होने से एवं व्यक्ति चरित्र के सहारे विकास को प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण इनके उपन्यास तीव्र प्रभाव छोड़ने में सक्षम रहे हैं। मिथिला प्रदेश के अनेक खण्डचित्रों को विविध उपन्यासों में वर्णित कर इन्होंने उस प्रदेश की दमित सामूहिक चेतना को नवोन्मेष देने की सफल चेष्टा की है। रतिनाथ की चाची (१९४८) ग्रामीण समाज की विषमता, स्वार्थपरता एवं अज्ञानता का यथार्थ चित्रण करता है। बलचनमा (१९५२) अभावग्रस्त ईमानदार कृषक की करुण जीवन गाथा है। नयी पौध (१९५३) अन्याय व रूढ़ सामाजिकता के प्रति विद्रोह का साकार कर नयी पीढ़ी के उत्साह को वाणी देता है। बाबा बटेसरनाथ (१९५४) गाँव के दुःखमय इतिहास की जीवन्त गाथा है जिसमें विदेशी शासकों की स्वार्थसाधना, जमींदारों की स्वेच्छाचारी निरंकुशता एवं विद्रोह के राजनैतिक स्वरों का इतिहास है। इमरतिया (१९६८) धार्मिक पाखण्ड को अनावरित करते हुए मठों के भीतर के घृणित यथार्थ को प्रस्तुत करता है। वरुण के बेटे मछुआरों के जीवन पर आधारित उपन्यास है तो दुःखमोचन (१९५७) ग्राम्य जीवन में उठ रही नयी चेतना को वर्णित करता है। इनके अन्य उपन्यास हैं पारो (१९७५) हीरक जयन्ती, कुम्भीपाक, उग्रतारा (१९६३) इत्यादि।

उदयशंकर भट्ट भी आंचलिकता को जीवन्त करने वाले उपन्यासकार हैं जिनका झुकाव पूर्ववर्ती पीढ़ी की लेखन परम्परा की तरफ अधिक है। नाटक के क्षेत्र में भी पर्याप्त यशोपार्जन कर चुके हैं। सागर लहरें और मनुष्य (१९५६) इनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। मछुआरों की जीवनी पर आधारित यह उपन्यास नैतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर मछलीमारों के यौन एवं प्रेमसम्बन्धों की जटिलता को चित्रित करता है। पुराने शिल्प पर अवस्थित होकर भी कथा काव्यात्मक धारता, व्यंग्य, वर्णन बाहुल्य स्थानीय रंग सौंदर्य चेतना आदि से अपने वैशिष्ट्य को उद्घाटित कर सकी है। वह जो मैंने देखा (१९४५) शेष अशेष (१९६०) दो अध्याय (१९६३) इनके अन्य उपन्यास हैं। नये मोड़ (१९५४) विवाह की सामाजिक जटिल समस्या के आधार पर द्विधाग्रस्त भारतीय नारी की आन्तरिकता को उद्घाटित करता है।

आंचलिक उपन्यासकारों में ही यत्किंचित ख्यातनाम लेखकों में देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। इनके रथ के पहिए (१९५२) कठपुतली (१९५४), ब्रह्मपुत्र (१९५६) दूधगाछ (१९५८), कथा कहो उर्वशी (१९६१) मुख्य उपन्यास हैं। शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का बहती गंगा (१९५२) सत्तरह अलग-अलग कहानियों में काशी के दो सौ वर्षों में प्रवाहित जीवन गंगा के प्रवाह

को वर्णित करता है। प्रयोग के साथ काशी के सग्रह अासा को एकसूत्र म पिरा कर लेखक ने उ. साकार करने की सफलता अर्जित की है। रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर (१६६१) आजादी के पूर्व के गाँव की कहानी है जो आस्थावादी स्वरा म प्रकृति के प्रकोप एव अन्य तरीको से ताडित-अभिशप्त गाँव की छवि को उजागर करता है। इसी उपन्यास की अगली कडी के रूप म आजादी के बाद के गाँव को फोकस म लेकर लिखी गई कथा पर आधारित उपन्यास रचना जल टूटता हुआ (१६६६) लिखी गई। इसम परिवर्तित ग्रामीण जीवन सदर्भों मे उभर आई नई मूल्य दृष्टि को उपस्थित किया गया है। व्यापक क्षेत्र पर आधारित यह उपन्यास आजादी के बाद उपस्थित ग्रामीण जीवन के बदलाव को (जो कि नदियों स घिरे बीहड कछार म और भी अधिक महत्त्वपूण बन गया है।) पकडने की चेष्टा करता है। सूखता हुआ तालाब (१६७२) भी उपर्युक्त दोना उपन्यासा की ही भांति उसी भू भाग से जुड़े हुए कथानक पर आधारित है। बीच का सफर (१६७०) रात का सफर(१६७६), अपन लाग (१६७६) इनके गैर आचलिक उपन्यास हैं।

शलेश मटियानी आचलिक उपन्यासकारों म महत्त्वपूण नाम है। पहाडी प्रदेश के आचलिक वैशिष्ट्य को अपने उपन्यासो म साकार करने म इन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। 'बोरीवली से बोरीबदर' बम्बई के महानगरीय जीवन के घणित पक्ष को निम्नवर्गीय जीवन से जोडकर प्रस्तुत करन के कारण शहरो के आचलिक उप यास लेखन की सम्भावनाओ को उजागर कर सका था। चिट्ठीरसैन, हौलदार इनक अ य आचलिक उपन्यास हैं ता जलतरग (१६७३) 'छोटे छोटे पक्षी डेरे वाल (१६७६), 'नक्तिरी (१६८०) इनके गर आचलिक उप यास ह।

भरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास भी विशिष्ट कोटि के आचलिक उपन्यास हैं। नागार्जुन की ही भाति य भी समाजवादी विचारधारा के लेखक हैं। गगा मया' (१६५३) म उत्तर भारत के देहाती जीवन को इसी विचारधारा के परिपाश्व म अकित किया गया है। सत्ती मया का चौरा (१६५६) इनका प्रतिनिधि उपन्यास है जिसमे विशृखलित ग्रामीण जीवन के बिखराव को, शिथिलगात्र धार्मिक बन्धनो को एव राजनीति पर ध्रुवीकृत सामाजिकता के वग वैषम्य को प्रकट किया गया है।

सातवें दशक म आकर आचलिकता की यह प्रवत्ति अधिक गहराई और अन्य प्रवत्तिया को अपन म समेटत हुए भी आचलिक वशिष्ट्य को धारण की हुई अनेक कथा रचनाए सामने आइ।

शिवप्रसाद सिंह का अलग अलग वतरणी (१६६८) करैता गाँव की कथा के माध्यम स भारत की उजाड होती ग्रामीण दुनिया के सत्य का उद्घाटित

र^ता है। ग्रामीण जीवन म उभर आई विडम्बनामय बेतरतीबी ऊब, निराशा, अन्तविरोध एव बाझिलता का कथा का आधार दकर लेखक न वर्णित किया है। ग्रामीण सत्य का इसम सुन्दरतम ढग स प्रस्तुत किया गया है। इनका 'गती आग मुडती है' शिक्षा प्राप्त करन शहर म आए उस ग्रामीण युवक की कथा कहता है जो शहर की चमक्दमक से आक्रान्त होकर वही का हो जाता है और यो अपनी जमीन से कट जाता है।

हिमांशु श्रीवास्तव के 'लोहे के पख' (१९५७) म अछूत ग्रामीण परिवार की कथा के माध्यम म जमीन्दारा के शोषण को, अस्पृश्य समाज की विडम्बनाओ का, औद्योगीकरण के दुष्प्रभावो को वर्णित किया गया है। 'नदी फिर वह चली' म अधविश्वासो, लोक कथाओ क लोकाश्रित स्वरूपो को चित्रित करते हुए पूजी वादी शोषकी वृत्तियो के विरुद्ध आवाज की वाणी दी गई है।

बलभद्र ठाकुर न अपनी जीवट यात्रा प्रयासो म हिमालय को परो से रौन्दकर जो अनुभव प्राप्त किए उन्ह अलग-अलग उपन्यासो म 'हिमालय कथामाला के अतगत प्रस्तुत किया है। 'मुक्तावली' (१९५५) मणिपुर के लोक सास्कृतिक स्वरूप का प्रस्तुत करता है, 'आदित्यनाथ' (१९५८) कुल्लू प्रदेश के जन जीवन पर आधारित है तो 'नेपाल की वो बेटी' (१९५९) म नेपाल के सामान्य जन जीवन की अभिव्यक्ति हुई है।

राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास भी आचलिक गरिमा सम्पन्नता मे अनुस्यूत होकर सामने आए हैं। 'सूरज किरन की छाह' (१९५९) आदिवासी क्षेत्रो म ईसाई मिशनरियो के द्वारा किए जाने वाले धर्म परिवर्तन क प्रयत्नो की निर्ममता का वर्णन करता है। 'जगल के फूल' (१९६०) गोडो के जीवन के अतरग चित्र उपस्थित करते हुए उनके द्वारा किए जाने वाले स्वत्वाधिकारो के लिए किए गए प्रयासो को प्रकट करता है। अकेली आवाज उतरते ज्वार की सीपियां बहता हुआ पानी (१९७१), 'बीमार शहर' (१९७३) इनक अन्य उपन्यास है।

केशवप्रसाद मिश्र का 'कोहबर की शर्त', पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का 'फागुन के दिन चार' श्याम परमार का मोरझाल मनहर चौहान का हिरना सावरी, रागेय राघव के कब तक पुकारूँ और काका, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' वल्लभ डोभाल का अतकथा इत्यादि इसी कोटि क उपन्यास है।

आचलिक उपन्यासो के द्वारा जन जातियो तथा सुदूर अचलो के सम्मोहक जीवन का उनके स्थानीय रगो, मानवीय सम्बन्धो का अनछुए सदर्भो शोषण और उत्पीडन के अमानवीय जविक आधारो, लोक सस्कृति के अनूठे अनुष्ठानो निराडम्बर नैसर्गिक मानव व्यवहारो आदि के विविध इन्द्रधनुषी रगो को पहली बार प्रकाश मिला। उनकी समस्याओ का तथा आर्थिक विषमता, निराशा, अधविश्वास, बेबसी, दबाव, उत्पीडन, अतर्विरोध को उजागर करने पर भी

संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों को उजागर करने के कारण इन उपन्यासों के लिए आजादी के बाद एक विशिष्ट प्रकार का आकर्षण पैदा हुआ जो सातवें दशक तक बना रहा।

मूल्यांकन

आजादी के बाद के प्रथम दशक में हिन्दी उपन्यास तीव्रगति से विकसित हुआ। एक ओर उन पूर्वस्थापित लेखकों ने अपने सबल हाथों से ठोस जमीन प्रदान की और उसकी अपनी निजी पहचान को साकार किया तो दूसरी ओर नवोदित लेखकों की एक विशिष्ट पीढ़ी ने उसे अपनी अहंमन्यता से संस्कारित किया। लेखन के रचना प्रेरकों में सच प्रस्फुटित जीवन दशाएँ महती भूमिका निभाने लगीं तो आजादी के बाद की चिंतनधारा के बदलाव ने उसे अपने मनोवांछित ढंग से आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया। मनोविज्ञान, प्रगतिशील चिंतन इतिहास, संस्कृति, व्यक्तिवाद से जुड़ी हुई लेखन धाराओं में, आधुनिक बोध से युक्त नवलेखन की अभिनव परम्परा भी आ जुड़ी। शहरी जीवन की अवसाद, तनाव, घुटन भरी जिन्दगियाँ उपन्यासों में साकार हुई तो उसके समानान्तर प्रवाहित होने वाले ग्रामीण एवं आंचलिक जीवन दशाओं को भी लगभग प्रतिस्पर्द्धि भाव से कथा का आधार बनाया जाने लगा। तेजी से बढ़ते जीवन के क्रिया व्यापारों के साथ साथ नवीन कथा क्षेत्रों का उन्मेष हुआ।

इस दशक का महत्त्व आजादी के बाद के उपन्यासों मात्र में ही अन्यतम नहीं है अपितु समस्त हिन्दी उपन्यास साहित्य में यह दशक मील के पत्थर की भूमिका निभाता दिखाई देता है। प्रेमचन्द के बाद सच्चे अर्थों में उपन्यास का विकास इसी कालखण्ड में हुआ। हिन्दी उपन्यास से जुड़े सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सशक्ततम हस्ताक्षरों की गणनीय रचनाएँ इसी काल में सामने आईं। जैनेन्द्रकुमार के मुक्तिबोध और जयवर्धन यशपाल का झूठासच अज्ञेय का नदी के द्वीप, इलाचन्द्र जोशी का जहाज का पंछी अमृतलाल नागर का बूंद और समुद्र, अश्क का गिरती दीवारें, उदयशंकर भट्ट का सागर लहरें और मनुष्य, भगवतीचरण वर्मा का भूले बिसरे चित्र, रांगेय राघव का कब तक पुकारूँ हजारीप्रसाद द्विवेदी का चारुचन्द्र लेख, जैसे इन विशिष्ट उपन्यासों की परम्परा में ही नवलेखन की परम्परा के उपन्यासों की धारा भी आ जुड़ी। इनमें रेणु के मैला आंचल, परती परिकथा धर्मवीर भारती का गुनाहों का देवता नरेश मेहता का डूबते मस्तूल, राजेन्द्र यादव के उखड़े हुए लोग व सारा आकाश नागार्जुन के वरुण के बेटे, बलचनमा, शानी का कालाजल लक्ष्मीनारायण लाल का मन वृन्दावन चतुरसेन शास्त्री का वयंरक्षाम अमृतराय के बीज नागफनी का देश जैसे गणनीय उपन्यास इसी कालखण्ड में लिखे गए। इन्हीं लेखकों ने परवर्ती दशकों में भी अपनी लेखन परम्परा

का निर्वाह करते हुए कतिपय अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत कीं। स्पष्ट ही इस दशक में रचना कर्म को प्रेरित करने वाली दो भिन्न दिशाएँ परिलक्षित होती हैं। किन्तु एक दूसरे से अलग रहकर भी दोनों ही एक ही दिशा में अग्रसर होती दिखाई देती हैं।

इस काल का उपन्यास अपने भीतर दो अतियों में व्याप्त जीवन सदर्भों को समेटे हुए है। घोर व्यक्तिवादी उपन्यासों से लेकर स्थूल किन्तु व्यापक सामाजिक से जुड़े हुए कथानकों की सृष्टि भी हुई। नदी के द्वीप, सुखदा पथ की खोज जैसे उपन्यासों में लेखक जहाँ व्यक्ति की अतश्चेतना के अवगुण्ठित स्वरूप को अनावरित करने लगा वहीं समाज के विशद स्वरूप को एक ही कथाफलक में समेटने के उपक्रम भी हुए। सद्य प्राप्त आजादी की तोषप्रद अनुभूतियों के परिपार्श्व में विगत प्रयासों का लेखाजोखा देने वाला 'भूले बिसरे चित्र' के साथ ही आजादी की मोहभगकारी विभाजन की दुर्घटना को जीवन्त बना देने वाला 'झूठा सच' और आजादी के बाद भी उखड़ी जीवन स्थितियों को साकार करने वाली रचना 'उखड़े हुए लोग' जैसी रचनाएँ इसी काल में सामने आई। शहरी जीवन की आपाधापी और संस्कारहीन जड़ता को प्रकट करने वाला 'बूँद और समुद्र' भी लिखा गया तो ग्रामीण एव आचलिकता के सत्य को प्रस्तुत करने वाला 'मैला आचल' जैसी अमर रचना भी इस समय लिखी गई।

इस दशक में उपन्यासों का विषय परम्परा विनिर्मुक्त होकर अभिनव कथा क्षेत्रों की ओर उन्मुख हुआ। आजादी के अहसास के साथ ही नवोदित जीवन दशाओं से साक्षात्कार के महती प्रयासों का समारम्भ हुआ। इसके दशक के उत्तरार्द्ध तक आते आते मोहभग का त्रासदायक अनुभव भी समाहित हो गया। इसी भाँति जीवन में उठती विषमताओं और भागमभाग के दौर में भारतीय सीमाओं से परे अतर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व भर की मानवीय अस्मिता की पहचान के प्रयास शुरू हुए और युद्धोत्तरकालीन विषमताओं में कुण्ठित होते जीवन को कथा का विषय बनाया जाने लगा। स्थितियाँ ज्यों ज्यों जटिल होती चली गई उपन्यास की जमीन भी उतनी ही पथरीली, ठोस और लोचरहित होकर आधुनिकता के बोध के लिए सचेष्ट हुई। जटिल नगरीय जीवन की अभिव्यक्ति के साथ समस्याक्रान्त ग्रामीण जीवन को प्रेमचन्द की स्थूल रचाव परम्परा से अलग हटकर अत ग्रथित जैविक आधारों पर अंकित किया जाने लगा। इसी प्रक्रिया में सुदूर आचलिक जीवन को भी सायास खींच ले आया गया। आंचलिक उपन्यासों के रूप में इस दशक की रचनाएँ दस्तावेजी महत्त्व रखती हैं। महानगर बोध के रूप में नवीन जीवन दृष्टि एव समस्याओं को उपन्यासों का विषय बनाया जाने लगा। इस दृष्टि में नवनिर्माण के प्रति आशावादी रुख होते हुए भी मोहभग की निराशा के दर्शन गहराई में होते हैं।

छठे दशक के उपन्यासों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थानान्तरण लेखकों की मूल्यवादी दृष्टि में परिलक्षित हुआ। व्यक्ति के आचरण एवं जीवन की ही भाँति उपन्यासों में भी परम्परित मूल्यों पर प्रश्नचिह्न खड़े करते हुए उन्हें अस्वीकार किया गया। मूल्यगत आदर्शवाद यथार्थ के कटुतिक्त जीवन प्रसंगों में दोहरी आचरणगतता को प्राप्त हुआ। वस्तुतः इन पुराने मूल्यों के अस्वीकार की बात आज़ादी के पूर्व में ही उद्घाटित कर चुके थे उन्हें इस दशक में अधिक गरिमा-पूर्वक वाणी प्रदान की गई। 'नदी के द्वीप' का भुवन व्यक्ति चेतना के परिप्रेक्ष्य में अपने आचरण को निर्धारित करते हुए स्थापित मूल्यों का प्रबल नकार करने लगा। मूल्यों के प्रति प्रबल अस्वीकार की यह प्रवृत्ति उनके ऋणात्मक महत्त्व का प्रतिपादन करने की ओर भी उन्मुख हुई। 'सारा आकाश', 'पथ की खोज' जैसे उपन्यासों में जड़ताग्रस्त मूल्यों की निर्मूल्य दशा का प्रत्यक्षीकृत किया गया। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसे उपन्यासों में मूल्यहीनता की आत्मघाती आचरणगतता को प्रस्तुत किया गया। लेखकों ने पूर्ववर्ती लेखकों के सुधारवादी दृष्टिकोण को पूरी तरह अस्वीकार कर विद्रूप सत्य को बेनकाब करने में अपना श्रम व्यय किया। संस्कारहीनता, कुसंस्कार या सर्जित जड़ता को अनेक दृष्टियों से विश्लेषित विवेचित करने के उपक्रम भी हुए। 'बूँद और समुद्र' में मध्यवर्गीय शहरी जीवन के बहाने समग्र भारतीय परिवेश की अगति को एवं कुसंस्काराश्रित हास्यास्पद आचरणगतता को कथा के माध्यम से विवेचित करने का प्रयास किया गया। व्यक्ति की विकल्पहीनता और निरुपायता के अंकन के प्रयास भी हुए और 'जहाज के पंछी' की सी व्यथित चेतना को अभिव्यक्त करने की सफल चेष्टाएँ भी की गई। अनास्था, अविश्वास का भाव गहराया और कथानकों में निराशाओं के सन्यासी स्वरों को मुखरित किया जाने लगा।

इस दशक के लेखन कर्म में यथार्थ के प्रति प्रबल आग्रह का भाव अधिक साकार हुआ। अनुभूत यथार्थ को ही जीवन की अभिव्यक्ति का आधार स्वीकारा गया और लेखन कर्म के लिए अनुभव की प्रामाणिकता को ही सम्मानित किया जाने लगा। नई पीढ़ी के लेखकों ने नवलेखन आन्दोलन में अप्रामाणिक या परभुक्त अनुभवों को छलावा सिद्ध किया और लेखक के अपने सामयिक यथार्थ से सम्पृक्ति की अनिवार्यता को ही सही लेखन प्रयास बतलाने की चेष्टा की। प्रेमचन्द काल से चला आ रहा आदर्शवाद सच्चे अर्थों में इस दशक में आकर समाप्त हो गया यथार्थ के प्रति प्रबल आग्रह ने लेखक को उसके स्थान पर कटु यथार्थ को ही नहीं नग्न यथार्थ का अभिव्यक्त करने की प्रेरणा दी। प्रतिस्पर्द्धा, अनास्था, मूल्यहीनता के इस युग में कुचली जाती हुई जिजीविषा के प्रामाणिक आलेख प्रस्तुत हुए। घुटन, उत्पीड़न, संत्रास के वर्चस्व के कारण व्यक्तिवादी मानसिकता को उपन्यासों का विषय बनाया जाने लगा। यद्यपि व्यक्ति की व्यष्टि चेतना

को समुपस्थित समष्टिचेतना से जोडकर वृहदाकार उपन्यासो की सरचना भी समानान्तर भाव से हुई। इस पर भी यह दशक मूल्यो, आदर्शों, परम्पराओ को नकारने के कारण मूलत व्यक्ति सत्य के उद्घाटन का काल बनकर सामने आया। स्थूल सामाजिकता की अवमानना का समारम्भ इसी समय हुआ। जनेन्द्रकुमार द्वारा उपोषित पात्रो की आतरिकता इस समय पात्रो की आचरण गतता की अनिवार्यता बन गई तो असामान्य मनोदशाओ वाले पात्रो की भरमार हुई।

छठे दशक के उपन्यासो म शिल्प सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवतन हुए। उपन्यासकार न उपस्थित नवीन जीवन स्थितियो को साकार करन के लिए कथा के स्थूल ढांचे को नकारते हुए कथ्य सम्प्रेषण पर जोर देना प्रारम्भ किया। घटनाओ की स्थूलता पर कथा की आधारभूमि समाप्त हुई और स्थितियो प्रसगो दृश्यों को जीवन्तता प्रदान करने के लिए प्रयासो का समारम्भ हुआ। इस प्रक्रिया म सूक्ष्म-व्यापवीय जीवनानुभव, व्यक्ति आचरण को दिशाएँ प्रदान करने वाले विरल प्रसगो को चित्रित करने की उन्मुखता बढी। स्थूलता स सूक्ष्मता की ओर का यह सक्रमण लगभग उसी भाँति अब उपन्यास जगत का सत्य बना जिस भाति द्विवदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता से विद्रोह करते हुए छायावादी काव्यान्दोलन का विकास हुआ था। शिल्प सवधन की यह अभिमुखता उपन्यास के कलेवर को अनक रूपो मे परिवर्तित करने लगी। केन्द्रीय कथा-विन्यास के स्थान पर विचार अथवा उद्देश्य की अभिमुखता प्रमुख हुई और उसकी एकन्वीमता के निर्वाह म लेखको का समूचा श्रम अपनी सलग्नता को निरन्तर बनाए रखन लगा। मूल्यों के परिपाश्व म अन्तर्विरोधों, दोहरापन, असगतियो और व्यक्तित्वहीनता को आदश के परिपाश्व म अकित करने की अपेक्षा यथाथ के धरातल पर अवस्थित करने के लिए नवीन शिल्प प्रयासो का वचस्व हुआ। फ्लशबैक पद्धति डायरी शली, पत्र शैली कथान्तर, स्वप्न काव्यात्मक चारुता, आदि बातो का प्रयोग बढा। इसी भाँति कथ्य के सम्प्रेषण के लिए इतर साहित्य विधाओ का खुलकर उपयोग किया जाने लगा।

शिल्प सवद्धन के लिए प्रयोग ही इष्ट बन गया। आजादी के पूववर्ती दशक म अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित प्रयोगवादी काव्य आन्दोलन का इतर विधाओं पर भी प्रभाव पडा। उपन्यास म भी उसी प्रभाव क्षेत्र म प्रयोगधर्मिता एक अनिवाय उपकरण बनकर उपस्थित हुई। कथानक का स्थूल ढांचा नकार दिया गया और घटनाओ की स्तूप रचना के स्थान पर उपन्यास कथा के चारु चित्रण को सम्मानित करने लगा। कथानक म आतरिक गुम्फन की विशेष सजगता दृष्टिगत हुई। बिखराव वणन बहुलता के स्थान पर औचित्यपूण कथा निर्वाह का युग प्रारम्भ हुआ। व्यग्य कथा का प्रबल उपकरण बना तो अमूत जीवना

नुभवों को वाणी देने में लेखकीय प्रतिभा व्यस्त होने लगी। प्रयोग की अतिशय व्याप्ति का प्रमाण इस बात से भी लगाया जा सकता है कि इस दशक में केवल प्रयोग को ही इष्ट बनाकर उपन्यास रचनाएँ सामने आईं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' सात असम्पृक्त कहानियों की एक केन्द्रीय पात्र माणिक मुल्ला द्वारा व्यवस्थित की गई अन्वित रचना है तो लक्ष्मीचन्द्र जैन के द्वारा सम्पादित 'ग्यारह सपनों का देश' दस अलग-अलग लेखकों द्वारा लिखा गया हिन्दी का प्रथम सहयोगी उपन्यास है। 'एक इंच मुस्कान' राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी के सहयोगी प्रयासों का परिणाम है।

प्रयोग की इस प्रवृत्ति ने चरित्र के बंधे-बँधाए ढाँचे को भी तोड़ने का सफल प्रयास किया। नायक का एक ओर अधःपतन हुआ और उसकी विशिष्टता परिसमाप्त होकर उसे उसकी गरिमा से वंचित करने वाली बनी। नायक की निर्मिती में अब स्थितियों की सहभागिता के आधार पर नए मानक निर्धारित हुए। व्यक्तित्व की भव्यता, औदार्यमण्डित छवि, प्रभामण्डल की विवशता से मुक्त होकर लेखकों ने दैनन्दिन क्रियाकलापों में निरत आम व्यक्ति को कथा का केन्द्र बिन्दु बनाया। उसकी जिजीविषा अविकल भाव से यथार्थ रूप में अंकित की जाने लगी। प्रायः निराशा, कुण्ठित, यौनाक्रान्त, सनकी भरा, दोहरा आचरणकर्त्ता, व्यक्तिवादी, अहंवादी, गतिशील, प्रेमातुर व्यक्ति को ही केन्द्र में रखकर उपन्यास लिखे गए। यद्यपि इसके चित्रण में चारुता है किन्तु यह सामान्यजन का आंशिक प्रतिनिधित्व ही कर सका। स्थितियों और घटनाओं का निर्माण इसकी गहरी जीवन पठ से सर्दभित है और इसका आचरण भी तदनुरूप व्यक्ति आचरण की ही बानगी देता है तथापि इस काल के उपन्यासों का व्यक्ति निरा बेबस, पंगु विकल्पहीन और निराश होकर ही रह जाता है। वह स्वयं भी अधूरा है और अपने पाठकों को भी किसी प्रकार का आशाजनक सन्देश नहीं देता। नवलेखन के प्रति आकर्षण का भाव यद्यपि उपन्यास के लिए शक्तिवर्धक और उत्साहकारी ऊर्जा को हिन्दी में उत्पन्न कर रहा था किन्तु जीवन के ऋणात्मक पक्षों को ही मूलतः अभिव्यक्त करने के कारण पाठकों पर सामान्यतः प्रतिकूल प्रभाव स्थापित करता हुआ ही दिखाई देता है।

सातवे दशक का उपन्यास   मोहभंग का काल

छठे दशक तक आते-आते हिन्दी उपन्यास पूरी तरह स्थिरीकृत हो चुका था। अपनी विकास यात्रा की सुदीर्घ अवधि म उपन्यास के साथ प्रारम्भ से ही एक ऋणात्मक अवधारणा साथ चली आ रही थी कि उपन्यास अन्य विधाओं की ममता मे हलका फुल्का साहित्य रूप है। उपन्यास पठन फुरसत के क्षणो की बात समझी गई और परम्परागत मूल्यवादी दृष्टिकोण से सोचने वाले अभिभावक स्वय तो इनस अरुचि रखते ही थे अपने बच्चो को भी उपन्यास के अध्ययन से वर्जित करते रहते थे। इस प्रकार अपने जन्म से ही उपन्यास चुपचुप पढने वाला साहित्य बन गया। उसका विकास या अवरोधी विचारधाराओ एव पाठको की हीनताओ, भयो के मिश्रित स्वरूप के साथ हुआ। निस्सन्देह इसके लिए देवकीनन्दन खत्री, राधाचरण गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा जैसे लेखक उत्तरदायी है जिन्होने उसको यात्रा के प्रारम्भ म ही उपन्यास को हल्के फुल्के मनोरञ्जन का हेतु बना दिया था। तिलिस्म पैदा कर अभिभूत करने की कला वस्तुत किस्सा गोई को ही विकसित कर पाई जिसका प्रभाव प्रेमचन्द काल तक के उपन्यासकार पर बना रहा। पाँचवें दशक म उपन्यासो म जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ उसने हिन्दी उपन्यास की किस्सागोई वाली अपभावना को तोड दिया और उपन्यास को सच्चे अर्थों म उपन्यास बनाने की सफलता अर्जित की। उपन्यास अब गम्भीर साहित्यिक प्रयास बना और उसका पठन अब किसी प्रकार की अपराध भावना को भडकाने वाली अनुभूति न रहा। छठे दशक के लेखको ने उपन्यास को और अधिक सस्कारित किया और उसे जीवन व व्यक्ति की पहचान का एकमात्र आधार बना दिया। इसस उपन्यास को दोहरा लाभ हुआ। एक ओर उपन्यास के प्रति पाठकीय अभिरुचियो का विकास हुआ तो दूसरी ओर जीवन एव व्यक्ति की विविधोन्मुखी प्रामाणिक अभिव्यक्ति के कारण यह अन्य साहित्यिक विधाओं पर भी भारी पडने लगा। वैसे भी इस काल म कविता को लेकर जितना मतभेद और अराजक वातावरण निर्मित हुआ उसने कविता को नेतृत्व की क्षमता से वचित कर दिया। जबकि उपन्यास के पास आज के व्यक्ति मानस को अपनी ओर आकर्षित करने म अनेक साधन उपलब्ध थ जिनका उसने खुलकर उपयोग

किया। मसलन उसने व्यक्ति के अतर्बाह्य के सभी क्षेत्रो के जीवन्त एव प्रामाणिक चित्र उपस्थित किए जिससे उसकी विश्वसनीयता बढी और पाठक उसम अपने खुद के जीवन प्रसगो की अभिव्यक्ति पाकर हर्षयुक्त भाव से उसका भक्त बन गया। दूसरी ओर सदा स सभी साहित्य विधाओ का नेतृत्व करन वाली कविता इस समय अतिशय प्रयोग धर्मिता और कवि की विचाराश्रित वैयक्तिकता को फोकस म लेन के कारण कलामय चारुता को आत्मसात् करते हुए भी पाठको के चित्त से उतर गई।

किन्तु छठे दशक के उपन्यास लेखक ने अपने परवर्ती सातवें दशक के लेखको को दाय रूप म अनेक दोष भी प्रदान किए। छठे दशक का लेखक प्रामाणिक अनुभूति के नारे को उछालकर भी उसका सही इस्तेमाल नही कर सका। उसकी दृष्टि का विस्तार वस्तुत नवबोध के द्वारा आत्म स्थापना म अधिक हुआ न कि *उस बोध की रचना के लिए अपेक्षित खाद्य बनाने के रूप म।* *पुरानी पीढी के लेखको* मे ऐसा मोह कम है यही कारण है कि उनका प्रयास परम्परायुक्त होकर भी पाठको के साथ अधिक गहराई से एकाकार हो सका। इस काल के लेखक का एक दोष यह भी है कि अपनी समूची सजगता के बावजूद वह अपनी प्रत्यक्षीकृत अनुभूतियो को चित्रित करने की जगह आजादी के पूर्व की जीवन दशाओ को ही मुख्यत खगालता रहा। जिन उपन्यासकारो ने अपने समय को उपन्यास का विषय बनाया वे मूलत दूसरी भाषाओ (मुख्यत अंग्रेजी साहित्य) से उधार ली गई सामग्री को अपने रग म डब करके ही चित्रित करते रहे। जीवन की सश्लिष्ट दशा के लिए उत्तरदायी उपकरणो एव बाह्य दबावो का ठीक से आकलन कर उपयोग म लाने की जगह फैशन के रूप मे ही उसे इस्तेमाल करते रहे। इस काल का लेखक कथा सरचना म मूलत विफल प्रेम कथाओ को ही अकित करता रहा। अपने अतिशय निराशावादी दृष्टिकोण के कारण यह हताशा, ऊब, घुटन, तनाव, प्रेम-पराजय को ही उपन्यासो म अकित करता रहा। इस प्रकार छठे दशक का लेखक जागरूक चेतना के साथ आत्म सीमाओ के कारण अनेक दोषो को भी परवर्ती लेखको को पहुँचा गया।

सातवें दशक का समारम्भ जिन परिस्थितियो म हुआ वे पूववर्ती दशक से पर्याप्त भिन्न थी। आजाद होने का उत्साहजनक अनुभव पिछले दस वर्षों म ही मोहभग की हताशा म परिणत हो गया। छद्म राजनीति की कुटिलता सारे देश को लील गई और जीवन की आपाधापी म मूल्यहीनता अपने घिनौने रूप को लेकर विकरालतम रूप म उपस्थित हुई। मुखौटे अतिप्रचलित होकर दनन्दिन जीवन का अग बन तो भ्रष्टता सवग्रासी महामारी सी फल गई। अभाव कुण्ठा और पीडाएँ इतनी पहचानी सी हुइ कि निराशा, उग्रता, व्यग्य, कटूक्तियाँ, विरोध ही व्यक्ति चितन की अभिव्यक्ति के प्रबल हथियार हुए। इसी म परसग के रूप म

पीढियोगत तीव्र वैचारिक अतराल भी आ जुडा। इन सब कारणो से सातवाँ दशक न केवल सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रतिकूलताओ के कारण वरन् अभिनव सोच के आधार एव दिशाओ के कारण भी पूववर्ती दशको से भिन्न स्वरूप म समुपस्थित हुआ।

इस विषम परिवेश की भावना बनकर लेखको की एक नवीन पीढी सामने आई। इनके तेवर बदले हुए थे (हालाँकि इनम भी पूववर्तियो की रचना प्रक्रियाओ की पर्याप्त झलक देखी जा सकती है) रोष का स्वर प्रबल था, अस्वीकार अधिक स्पष्ट था और मूल्यहीनता की उत्तेजक छवियो उकेरने की जगह इन्होंने मूल्य विरोधी रचनाएँ प्रस्तुत की। व्यवस्था के प्रति असतोष का भाव इनकी रचनाओ का विशिष्ट सम्वादी स्वर था जो स्पष्ट पूव था। व्यवस्था के चरमरात ढाचे म विसपित सामाजिक आचरणगतता के अनेक रूप इनके उपन्यासो म उजागर हुए। या व्यवस्था के प्रति लेखको की अननुकूल धारणाएँ इस दशक म परिलक्षित हुई।

ये लेखक अपने से पूववर्ती नवलेखन के लेखको की भाँति सामुहिकता की भावना स आगे नही आए अपितु दृष्टि की समानता के आधार पर वयक्तिक प्रयासो म ही आगे आए। लेखन के प्रति इनके प्रयास अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण और ईमानदारी लिए हुए थ। इनका लेखन युग की प्रत्यक्ष समस्याओ स जुडा हुआ था और व्यक्ति के व्यष्टिसत्य का उजागर करने के लिए सम्पूर्णत समर्पित था। लेखन के यहाँ सिफ अपनी निजता को ही स्थापित करने म जुटा नही रहा। पीडा मोहभग, कुण्ठा, असतोष अनास्था, हताशा, मृत्युबोध, अस्तित्वचेतना, जुझारूपन, तल्खी, व्यग्य, कटुता आदि के रूप म सामयिक व्यक्ति की आचरणगतता एव मानसिकता के चौमुखी आयाम इस समय के उपन्यासो म प्रमाणिकतापूवक अभिव्यक्त हुए। इस काल के उपन्यास म पनी धार वाली छैनी स स्थितियो की विद्रूपताओ को काटने की चेष्टा की गई। इनकी रचनाए अपेक्षाकृत अधिक ताजगी लिये हुए थी। (यद्यपि महानगरीय त्रासदी का सायास अनायास अकित करने की इनकी विवशता भी उतनी ही बेबाकी से उजागर होती रही है।)

नवोदित उपन्यासकार और उनके उपन्यास

निमल वर्मा की कहानियाँ छठे दशक से ही उनकी अपनी स्वतन्त्र पहिचान कायम करा चुकी थी किन्तु इनके उपन्यास छठे दशक म सामने आए। इनके उपन्यासो में भाषा का कुआरापन अपने अनूठे सलौनेपन के साथ सामने आया है। पाश्चात्यजीवन सरचना पर अवलम्बित इनके उपन्यास रचाव एव गठन दोनो ही प्रकारो से पाश्चात्य उपन्यास आदर्शों की छवि उपस्थित करते हैं। कथानको मे सामान्यत म व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर आधारित विशिष्ट किन्तु असामान्य आचरण-

कर्ता चरित्रो की सृष्टि करते हैं। अकेलापन, शून्यता, सम्पर्कहीनता, गहरी ऊबयुक्त ठहरी हुई जिन्दगियाँ इनके उपन्यासो का विषय बनी है। व्यक्ति की आन्तरिक दुनिया को फोकस म रखकर उसकी असामान्य आचरणगतता का ही ये अलग अलग परिवेश मे बिखरी जिन्दगियो म उल्लिखित करते रहत है। जीवन की यथाथपूण सूक्ष्म पारदर्शी सम्वेदनाओ के तरल भावालोक म ही इनकी रचनाएँ विकास प्राप्त कर सकी हैं। चित्रमयी भाषा, सजीव बिम्बविधान, विरल-तरल अनुभूतियो का सूक्ष्म अकन, अतमुखी पात्रो की स्वमुखापेक्षी चिन्ताधारा, भाषा की मिठासयुक्त काव्यात्मकता, इन्हे एक श्रेष्ठ कलावादी उपन्यासकार बना देती है। निस्सन्देह निमल वर्मा समस्त हिन्दी कथाजगत म शिल्प सौष्ठव म बेजोड हैं। अभिनव शिल्प सरचना पाठको को बाँध लेती है किन्तु कथ्य (और कथा की भी) अनुपस्थिति के कारण ये निर्विवाद नही रह पाते। 'व दिन (१९६४) इनका प्रथम उपन्यास है जो कि युद्धोत्तरकालीन मानवीय सकट और अस्तित्व पर उभर आए सकट की अमरगाथा है। केन्द्रच्युत पौधे की भाति अलस मुरझायी जिन्दगी से, युद्ध के परिणाम रूप म बेमानी पड गए सम्बन्धो स एव एकाकीपन स अभिशप्त नयी पीढी के इकाई रूप को, जो रागात्मिकावत्ति की आह्लादकारिता के निममता से कुचल दिए जान के कारण अँधेरे म भटक रही है, का कथा के रूप म वर्णित किया गया है। 'वे दिन' प्राग के क्रिसमस के चन्द शान्तिपूण दिनो की गाथा है। वफ और धूप छुट्टियो का खालीपन और पुरान शहर के सूनपन मे अवसादपूण प्रेमकथा चुपचाप चलती रहती है। मानवीय अस्तित्व पर उभर आया सकट ढीठता से सारी कथा पर बेतरतीब भाव से लटका रहता है। आस्था मूल्यो और विश्वासो के टूटने के बाद की निराशा, अवसाद जडता, अलगाव, व्यथता क जहर से दग्ध यूरोपीय समाज की जटिल व अनकावर्ती सामाजिक रहस्यमयता को लेखक न साकार किया है। 'लाल टीन की छत' (१९७४) म बचपन और यौवन की सीमारखा पर खडी लडकी की भावाकुलता तथा आवशमयी यमक्तिकता को प्रस्तुत किया गया है। पहाडी प्रदश की निजनता, सम्पर्कहीन बाध्य एकाकीपन क कारण नितान्त निजी आन्तरिकता म खोए रहन वाल पात्रो की मानसिकता को कथा म बुना गया है। किशोर नवयुवतो की विरस जिन्दगी के अन्तरग क्षणो का प्रामाणिक दस्तावेज होकर भी उपन्यास विशिष्ट अभिजात्य भर की सष्टि कर रह जाता है जो शून्यतामडित व्यथता के अतिरिक्त पाठक तक अन्य कुछ भी पहुँचा नही पाता। इनका 'एक चिथडा सुख' (१९७९) प्रतीकाश्रित सांकेतिकता से मूल्यहीन जीवन दशाओ म निजता को खोजन भटकते पात्रो की कहानी है। इसके पात्र स्वस्थी होकर भी अपनी कोई पहिचान नही रखत। अन्भुत शिल्प चातुय के बावजूद उपन्यास महत्त्वपूण नहीं बन सका है।

भीष्म साहनी भी एम उपन्यासकार हैं जिनका लेखन पूववर्ती दशक म ही

कर अलग देखने और उनकी दैनिक जीवन पद्धति म पराएपन को निरन्तर महसूसने वाली मानसिकता पर आक्रामक मुद्रा म रजा ने उपन्यास लिखे हैं। या एक समानान्तर दुनिया क बन्द लौह कपाटो को खोलकर इन्होने उनके भीतर के मानवीय सत्यो को, उनकी सामाजिकता के सामान्य सुख-दुख, हर्ष विषाद आश्रित विविध भावो को मार्मिकता से अभिव्यक्ति दी है। व्यक्ति के यथार्थ को निराडम्बर रूप म प्रकट करने के लिए भाषा की सहजता को अपना कर इन्होने हिन्दी उपन्यास को शिष्टता की जकडन से मुक्त कर दिया। अभिनव शिल्प चेष्टाओ, प्रयोगो की नवीनता से इन्होने नई राहो का उन्मेष किया। व्यक्ति से इतर समानधर्मी समूह मानसिकता को भी अकित करते हुए इन्होन नवीन परम्पराओ का सूत्रपात किया। इनके उपन्यास काव्यात्मक चारुता, महाकाव्योचित फलाव, यथार्थ की गहरी पकड, परिवेश का जीवन्त सत्य, आन्तरिक कसावट, एक दिशोन्मुखी प्रवाह एव आचलिक भाषायी पुट के कारण विशष प्रभावित करते है। 'आधागाँव' (१९६६) उपन्यास कुछ लोगो या कुछ परिवारो की या अपने आपको सम्पूर्ण बनान म प्रयत्नशील कुछ अरे बुरे गाँव के लोगो की कहानी भर नही है। न यह धार्मिक है न राजनीतिक यह समय की कहानी है जो आजादी के बाद गाजीपुर के एक गाव(बल्कि सिर्फ आधे गाव)पर से पूरी निममता से गुजर रहा है। समय के इस दौर म विगत और वतमान के बीच आए अतर और बदलाव को पूरी इमानदारी से वर्णित किया गया है। आचलिकता के सघनतम उपयोग और तलस्पर्शी चरित्रो के सपाट आचरण से एव आदि से अन्त तक कथा के साथ साथ लेखक के अपन जीन के प्रयासो से यह बेजोड उपन्यास बन गया है। यद्यपि इसी ईमानदारी के कारण, भाषा की निराडम्बर वास्तविकता क कारण एव मुस्लिम जीवन पद्धति की अतरग छवियो के कारण यह आजादी के बाद का सर्वाधिक विवादास्पद उपन्यास बन गया है। अपने अन्य उपन्यासो म राही मासूम रजा तेवर की उग्रता और सम्पूर्ण सजगता के बावजूद आधागाँव के स्तर की गरिमा को निभा नही पाए है। 'टोपी शुक्ला साम्प्रदायिक सकीर्णता पर प्रतीकात्मक चारुता से प्रहार करता है 'सीन ७५' बम्बई की फिल्मी दुनिया के आन्तरिक सत्यो को उद्घाटित करता है तो कटरा बी आर्जू (१९७८) आपात काल के पूव से लेकर जनता शासन तक की कथा कहता है। इनके अन्य उपन्यास हैं हिम्मत जौनपुरी, दिल एक सादा कागज।

श्रीलाल शुक्ल न 'राग दरबारी (१९६८) मे व्यग्य को कथा का उपकरण बनाकर उस सवथा नयी जमीन प्रदान करन की सफलता अर्जित की है। व्यग्य अब तक उपन्यास की कथा का प्रभावशाली मारक हथियार भर था इस उपन्यास मे वह समूची कथा का आधार बना है। उपन्यास म आजादी के बाद के समूचे देश की दरबारी राग को उजागर करने के लिए व्यग्य को इस्तेमाल किया गया है

और ग्रामीण जीवन के असंगत अमानवीय आचरण पर प्रहार किया गया है। यद्यपि व्यंग्य के प्रति लेखक की अतिशय जागरूकता और एकमत समर्थन के कारण यह कहीं कहीं उबाऊ और विरोधी प्रभाव पैदा करने लगता है (तब व्यंग्य कोरी लटकेबाजी सा लगने लगता है) तथापि 'राग दरबारी' हिन्दी उपन्यास की एक अन्यतम उपलब्धि है। इसने उसे एक सर्वथा नवीन दिशा जरूर दी है। श्रीलाल शुक्ल के अन्य उपन्यास व्यंग्य से सम्बद्ध नहीं हैं (यद्यपि 'राग दरबारी' की लोकप्रियता और लेखक की क्षमता को देखकर उससे ऐसी अपेक्षा करना गलत नहीं है)। अपने अन्य उपन्यासों में लेखक इस दिशा से हट गया है इस कारण वे इतने प्रभावशाली नहीं बन पाए हैं। इनके अन्य उपन्यास हैं 'सीमाएँ टूटती हैं' (१९७४) 'आदमी का जहर' (१९७४), 'मकान' (१९७६)।

नासी का 'बालाजल' 'आधागाँव' की ही भाँति मुस्लिम संस्कृति का समग्र दस्तावेज है किन्तु इसमें भाषा का संयम और चित्रण में भावुकता का समावेश नहीं अधिक है। टूटते सामन्ती वैभव और जड़ता के कारण भूख और अभाव में भी सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्वाह एवं विश्रृंखलित होते कौटुम्बिक जीवन को इसमें नरेश मेहता के 'धूमकेतु एक श्रुति' की सी तरलता से अंकित किया गया है। वैभव की टूटन और स्थितियों के कारणिक बदलाव का इसमें अत्यंत मार्मिक चित्रण हुआ है। 'नदी और सीपियाँ' (१९७०), 'साँप और सीढ़ियाँ' (१९७२) 'एक लड़की की डायरी' (१९७३) इनके अन्य उपन्यास हैं।

सातवें दशक में प्रयोग ही बहुत से लेखकों के लिए महत्त्वपूर्ण हो गया। उनकी नजर में कथ्य के सम्प्रेषण हेतु परम्परित कथारूढ़ियों के अनुपालन करते रहना (नवीन विचारों एवं जीवन प्रसंगों की अभिव्यक्ति के लिए) अनुचित कर्म बन गया था। इन्होंने नवीन प्रयोग करते हुए आज के व्यक्ति को एवं उसके जीवन के अभिनव रूपों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की। काव्य में यह अवधारणा सप्तकों के प्रकाशन से ही हो चुकी थी। उपन्यासों में भी 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसी रचनाओं में इसका सूत्रपात हो चुका था। किन्तु पूर्ववर्ती दशक तक प्रयोग की यह अवधारणा पूरी तरह स्थिरीकृत नहीं हो सकी थी और वसे प्रयास आत्मतुष्टि से किए गए चमत्कारिक किन्तु स्फुट प्रयास भर होकर रह गए थे। इस दशक के लेखकों ने प्रयोगाश्रित उपन्यास लिखकर पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की। यद्यपि इनके एतन्निषयक प्रयास काम मश्लिष्टता एवं बुभुक्षु यौन भावनाओं को ही प्रमुखतः वाणी दे सके। (बल्कि उसके लिए ही इन लेखकों ने इस नवीन रास्ते को सायास अपनाया) तथापि इन्होंने इस दशक के उपन्यासों को एक नई भावभूमि से, नए ढंग से जोड़ा इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस रूप में इनका योगदान अन्यतम है। इस कोटि के लेखकों में राजकमल चौधरी, रमेश बक्षी और महेन्द्र भल्ला प्रमुख हैं।

राजकमल चौधरी ने प्रयोग की इष्टता को वस्तुत उपन्यास को नई कथा भूमिका से जोडने के रूप म प्रदर्शित किया है। अछूते विषयों का एव परम्परित नैतिकताजनित सकोच का तिरस्कार कर लगिक सम्बन्धो को इन्होंने उपन्यास का विषय बनाया है। इस रूप म नग्नयथार्थ के अनछुए प्रसग इनके उपन्यासो म कथानक का आधार बने। अपने प्रथम उपन्यास से ही चौंकाकर सामने आने वाला यह लेखक अपने लेखन की ऊर्जा के रूप मे उस बेचैनी और विकलता को धारण किए हुए है जिससे नई पीढी के अधिकाश नौजवान ग्रस्त थे। जिनकी मानसिकता स्वदेशी जीवन दशाओ को सम्पूणरूपेण दोषपूण और विदेशी स्थितियो को सब भावेन वरेण्य समझने म सचेष्ट थी। 'मछली मरी हुई' (१९६६) म राजकमल ने स्त्रियो के समलगिक सम्बन्धो को कथा का विषय बनाया है। यद्यपि इस विषय की प्रेरणा इन्होंने सीधे विदेशी साहित्य से ली है (जिसका उल्लेख इन्होंने पुस्तक की भूमिका मे किया है) इस कारण यह भावना नात भारतीय सामाजिक आचरणगतता से मेल नही खाती। फिर भी इस उपन्यास म लस्वियो का उल्लेख चौंकाकर आखें जरूर खोलता है। इससे कही अधिक सुदरता से उपन्यास द्वितीय महायुद्ध के काल म एक ही रात म धनिक बन जाने वाले नवधनाढ्यो के आचरण का वर्णित करता है। इन नवधनाढ्यो का आचरण विगत जीवन के कलक के ढक जाने से तथा काले धन से यकायक ही प्राप्त वैभव के कारण आदरणीय हो जाना है। इस विषय पर लिखा गया हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है और विवादास्पद होते हुए भी इस कारण महत्त्वपूर्ण है। इनका 'शहर था शहर नही था' भी प्रयोगाश्रित उपन्यास है। 'बीस रानियों का बायस्कोप' (१९७२) 'एक अनार एक बीमार' (१९७२) उतने चर्चित नही हो सके हैं।

रमेश बक्षी का लेखन चेतना के स्तर पर परम्परा से द्रोह करते हुए आत्म चेतना के विस्तार म ढीठता मे सलग्न है। उस विद्रोही चेतना की अभिव्यक्ति के लिए ये अभिनव शिल्प अनुसधान मे सतत प्रयत्नशील रहे हैं। इनकी यह शिल्प सवर्धन कला चौंका देने तक की सीमा तक बढकर इनकी रचनाओ को केवल प्रयोग का अनगढ स्तूप भर बना जाती हैं। लघु उपन्यासो म विशिष्ट इन उपन्यासो म अवगुण्ठित कथ्य एक पहेली की भाँति छाया रहता है और कथा प्राय अनुपस्थित रहकर उभर आए अन्तरालो को भरने वाले सेतु का सा काम करती नजर आती है। फलत इन्हे प्रयोगशील रचनाकारो म अग्रणी होने का गौरव दिया जा सकता है। 'चलता हुआ लावा' म अस्तित्व चेतना और मृत्युबोध को उजागर करने का प्रयास हुआ है। व्यग्य के पैने औजार से इन्होंने विषम सामाजिकता और अतविरोधयुक्त जीवन दशाओ पर प्रहार किया है। 'अठारह सूरज के पौधे' (१९६५) मशीनी दौड म, कन्धे ठेलती भीड के बीच, अनसुने शोर म खो गए आदमी की अस्मिता की खोज की प्रयोगात्मक चेष्टा है।

गतिशीलता और महाभारतकाल से ही चली आ रही मानवीय युयुत्सा को सूय की रथयात्रा के साथ साथ सयोजित कथानक म व्यवस्थित किया गया है। क्षणानुभवो एव बदले पारिवारिक सम्बन्धो का जीवन्त चित्र अकित करते हुए लेखक ने सामयिक व्यक्ति आचरण को साकार करने म सफलता अर्जित की है। यद्यपि निरतिशय प्रयोगशीलता, उलझी हुई कथा और सश्लिष्टतम व्यक्ति चेतना के अकन के कारण उपन्यास ऊब भी पैदा करता है। (इस उपन्यास पर २७ डाऊन नाम से निर्मित फिल्म पर्याप्त चर्चित हुई है।) 'हम तिनके', खुलेआम' (१६७५), 'बैसाखियो वाली इमारत' इनके अन्य उपन्यास ह।

महेन्द्र भल्ला इसी वग के अन्य महत्त्वपूण उपन्यासकार ह जिन्होंने यौनाक्रान्त व्यक्ति की आन्तरिकता को निराडम्बर रूप म उद्घाटित करते हुए अपने पहले ही लघु उपन्यास 'एक पति के नोटस' (१९६७) से अपनी पहचान बना दी थी। महेन्द्र भल्ला न आज के युवा व्यक्ति के सोच की उस दिशा को, जो मानो फ्रायड प्रेरित विचारधारा के परिपाश्व म यौन भावना का प्रत्येक कम के मूल मे देखता है, अभिव्यक्त किया है। सामाजिक आचरणा के काम प्रेरित झूठे दिखाव जिस रूप म सामान्य आचरण को खोखला बना जाते है उन्हे उपन्यास म जीवन्त किया गया है। साधारण हैसियतवाला नायक अपनी पडोसन के साथ काम सम्बध स्थापित करन म ही सचेष्ट है और सफल होकर कुछ भी अनूठा या अभिनव न पाकर मानो ठगा सा रह जाता है। 'दूसरी तरफ' (१९७६) आज की सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्या पर गम्भीरतापूवक लिखा गया उपन्यास है। आम भारतीय नवयुवक के मन म आज अपने देश की बेकारी, बेरोजगारी अभाव एव शिक्षा के कुसस्कारो के कारण यह भाव स्थाई रूप से घर किया हुआ है कि विदेश म चले जाने भर मे उसका जीवन स्वगवत हो जाएगा। इस शौक में उन देशो मे चले जान पर उसे जिस उपेक्षा और दूसरे दर्जे की नागरिकता का दश कारी अनुभव भोगना पडता है उसका सटीक चित्रण 'दूसरी तरफ म किया गया है। उस दूसरी तरफ का अधेरा भी इस पार के अँधेरे स कम भयावह नही है इसकी स्थापना म लेखक पूण सफल रहा है।

इन प्रयोगधर्मी उपन्यासकारों ने सातवें दशक के उपन्यास का नए किन्तु सधे हुए हाथो से सजाया। किन्तु इनकी दृष्टि दोषदर्शी, निराशाजनक और आस्थाहीनता को ही सयोजित करने मे सचेष्ट रही। ऋणात्मक प्रभाव पैदा करन वाले इनके उपन्यास यौन भावना को उछालन म ही समथ हो सके। किन्तु इसी दशक म कुछ अन्य हस्ताक्षर उपन्यास के क्षेत्र मे नवीन कथा क्षेत्र और उनस जुड हुए जीवन प्रसगो को लेकर सामन आए। इन्हान उपन्यास को प्रेम काम और प्रयोग की सकीणता से बाहर खीच लाने का वैयक्तिक प्रयास किया। इनम गिरीश अस्थाना का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूण है। इन्होंने अपन विशाल आकार

के उपन्यास 'धूप छाही रंग (१९७०) में हिन्दी उपन्यासों में पहली बार युद्ध को कथा का विषय बनाया। युद्ध की विभीषिका एवं अप्रत्यक्षतः उसके द्वारा होने वाली अमानवीय आचरणगतता किस भांति मनुष्य की सारी सरचनात्मक ऊर्जा को तोड़ देती है का कथा में सफल अंकन हुआ है। नायक के रूप में विनाशकारी युद्ध की ओर जाते एक सैनिक की घुटती चेतना, भय, विवशता और अपने में डूबती उतराती मानसिकता के जीवन्त चित्रों को अंकित किया गया है। उपन्यास का उत्तरार्द्ध शांति के काल में बेकार नवयुवक की घुटन को एवं कलाकारों के आन्तरिक जीवन की विमगन स्थितियों का भी उतने ही अधिकार से अंकित करता है।

इस दशक के नवोदित अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाकारों में राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी आदि हैं जिनका उल्लेख आंचलिक उपन्यासों में किया जा चुका है।

महिलाओं का योगदान

सातवां दशक हिन्दी उपन्यास के लिए इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्व रखता है कि इस समय से महिलाएँ भी उपन्यास लेखन में अधिक गम्भीरता प्रवृत्त से हुई। यद्यपि उषादेवी मित्रा ने आजादी के पूर्व से ही उपन्यास लेखन शुरू कर दिया था और आजादी के बाद के पहले दशक में रजनी पनिक्कर, कंचनलता सब्बरवाल जैसी लेखिकाओं के उपन्यास इस समय तक आ चुके थे किन्तु उनकी रचनाएँ युगीन दशकीय अवधारणाओं का सवहन न कर पूर्ववर्ती लेखन परम्पराओं का अनुसरण कर रही थी। प्रेमचन्दयुगीन वस्तु विन्यास और शिल्प इनकी रचनाओं पर हावी थे। इस कोटि की महिलाओं का लेखन पति पारायणता की भावना के प्रति विद्रोह कर अपनी निजता के अनुसंधान में सचेष्ट नारी को अंकित करने की जगह परम्परित मूल्यों को, बेमानी होते हुए भी सायास चित्रित कर रहा था। इनका लेखन साहित्य से इतर सामाजिकता की सिद्धि की सोद्देश्यता लिये हुए था। उपन्यास को उपकरण बनाकर इन लेखिकाओं ने नारी के आचरण को मानो उपदेशों के द्वारा यदिच्छित ढंग से शिक्षित करने की चेष्टा की। फलतः छठे दशक तक का महिलाओं का उपन्यास कोई विशेष लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका। वह पुरुषों के सशक्त, लेखन की समता में उपेक्षित और अनुल्लेखनीय ही रहा।

भारत की स्वाधीनता का आन्दोलन एक प्रकार से नारी स्वातन्त्र्य के संघर्ष का इतिहास रहा है। गुलाम भारत में नारी अनेक बंधनों में जकड़ी हुई थी जिनसे वह देश के आजाद हो जाने पर भी पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाई थी। अशिक्षित या मर्यादावाद की सीमा में आबद्ध ऐसी नारी से युगीन अवधारणाओं पर साधिकार लेखन की अपेक्षाएँ नहीं की जा सकती थी। आजादी के बाद की बदली हुई परिस्थितियों में नारी न केवल शिक्षित हुई अपितु वह पुरुष की ही भांति

समस्त वाह्य सामाजिकता से सम्पूर्णत जुड़ सकी। तब उसके सोच म, सोच की दिशाओ म और सत्य के साक्षात्कार की उसकी चेष्टाओ म पर्याप्त अन्तर आया। परिवार की सीमाओ का अतिक्रमण कर वह विस्तीर्ण, सश्लिष्ट गतिमान सामाजिकता की सहभागिनी बनी। इस कारण जटिल सामाजिक आचरणगतता मे सूक्ष्मतम अपराधो का, अन्तर्विरोधी आचरणो को, पुरुष के दम्भ से उत्पन्न चुनौतियो को और प्रतिस्पर्द्धि जीवन पद्धति के वास्तविक स्वरूप को देखकर उन्हे अभिव्यक्ति देने की अनुभव सम्पत्ति अपने भीतर सँजो सकी। प्रेम, शील, सकोच, आत्मपीडन, हीनता, आत्मलघुता, विवशता आदि के (नारी का परिभाषित करने वाले शब्दो म) अर्थ अब उसके लिए बदल गए और वह नारी की सार्थकता को अब एक व्यक्ति के रूप म अनुसधान करने लगी न कि परम्परित नारी आचरण के परिपार्श्व म। इन सब बातो ने सातवे दशक तक आते आते नारी के उपन्यासो को एक नई दिशा दी जिससे अब उनकी रचनाए परम्परा विनिर्मुक्त भाव से सामने आ सकी।

रजनी पनिक्कर का लेखन मिशनरी भाव से नारी की समस्याओ से जुडा हुआ है। नारी के साथ किए जाने वाले पुरुष के व्यवहार के प्रति विरोधमूलक विचार रखते हुए इन्होने नार्योत्थान की भावना को उजागर करने की भरसक चेष्टा की है। इसी कारण इनकी उपन्यास रचनाएँ मूलत समस्यामूलक दृष्टि लेकर सामने आई है और पीडित नारी की जीवन दशाओ को, उसकी सघर्षातुर चेष्टाओ का अभिव्यक्त करने का इन्होने प्रयास किया है। 'पानी की दीवार' (१९५४) प्रेम के त्रिकोण म नारी की बनती बिगडती मानसिक दशा का अभिव्यक्त करता है। 'काली लडकी' (१९५८) मे बदसूरत लडकी की पीडा को, 'मोम के मोती' (१९६०) और 'महानगर की मीता' (१९६७) म प्रेम को लेकर उपेक्षित नारियो का और वर्किंग वूमेन की समस्याओ को उठाया गया है। 'सोनाली दी' (१९६६) भी नौकरीपेशा नारी की कथा है किन्तु उसे वैचारिक आधार पर अकित करने म लेखिका सफल रही है जिससे यह इनके अन्य उपन्यासो से भिन्न प्रभाव छोडता है। 'दूरियाँ' (१९७४) आत्म निर्णय को सम्मान देने वाली दो सहेलियो की कहानी है जो पुरुष के वर्चस्व को नकारती हैं। उसे चुनौती देते हुए विवाह की स्वतन्त्रता के लिए जूझती है और अन्त म थककर समझौता करने को बाध्य होती है। उनकी पराजय मानो उन सारे प्रयासो की पराजय को सूचित करता है जो इस बदले युग म भी नारी को बलात् बासी मूल्यो से जकडे रखना चाहता है। लेखिका भी समस्या को ठीक से न उठा पाने के कारण इस रचना म (अपनी नायिकाओ की ही भाँति) विफल रही है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा भी मूलत नारी की पीडा को अभिव्यक्ति देने वाली लेखिका है। अपनी रचनाओ से प्रभावित तो करती है किन्तु उल्लेखनीय सिद्धि

प्राप्त नही कर पाती। 'चन्दन चादनी' (१९६२) मध्यवर्गीय पुरुषो की शोषिती वत्तियो पर आधारित है। सामाजिकता की दृष्टि से इस वग के व्यक्ति आज भी पुरातनता प्रेमी है जिसकी प्रेरणा से ये नारी के प्रति असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करने म भी सकोच नही करते। किन्तु आर्थिक कारणो से विवश होकर उस पर अवलम्बित होने का दोहरा किन्तु घृणित आचरण करते है। 'वचिता (१९७२) मरव्याधा से प्रताडित नारी की पीडा को वाणी देता है।

इस दशक म पुरुष लेखको के समकक्ष युगीन जीवन सदर्भो म उपन्यास लखन का उल्लेखनीय प्रयास उषा प्रियम्वदा न किया। उषा प्रियवदा ने उपन्यास के सच्चे स्वरूप को स्वीकारत हुए अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। इन्होन नारी की पीडा को लेकर पुरुष के प्रति उग्रता का अभिव्यक्त करने की अपक्षा जीवन क यथाथ म व्यक्ति की सत्ता के अनुरूप नारी का चित्रण किया है। इनके उपन्यास अपनी सहजता म ही विश्वसनीय बन गए है। इनम चित्रित नारी और उसकी समस्याएँ, युग सापेक्षता लिये हुए है। इनका 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' साधारण विफल प्रेम कहानी होत हुए भी अपने प्रस्तुतीकरण म असाधारण है। पारिवारिक उत्तरदायित्वो का सवहन करन वाली नारी को निरकुशी सामाजिकता से उत्पन्न परिस्थितियो म अपनी निजता का विसर्जन करने की विवशता स्वीकारनी पडती है। उसकी यह बाध्यता ही उसे अपन प्राप्य से वचित कर उस पूरी तरह तोड डालती है। उपन्यास की नायिका परिस्थितियो क ऐसे ही वात्याचक्र म उलझकर लाल दीवारो और पचपन खम्भो से निर्मित लडकियो के हॉस्टल म मानो बन्दिनी बन जाती है। उपन्यास नारी के कोण स प्रेमानुभव को उसकी तरलता को सुन्दरता से प्रकट करता है। इनका 'रुकोगी नही राधिका' की समस्या वहीं स शुरू होती है जहा पर जाकर पचपन खम्भे लाल दीवारें की कहानी समाप्त हुई थी। राधिका म इतना दुस्साहस है कि वह निर्भीकता से पिता की इच्छाओ के आगे झुककर उनके इच्छित ढग स जीवन जीने की अपक्षा अपना जीवन अपने ढग से जीना चाहती है। 'जो आप चाहते है हमेशा ऐसा ही क्यो हो क रूप म अपने विरोध को प्रकट करन के लिए अपनी निजता को उन पर थोपने के लिए विदेशी पुरुष के साथ यह देश छोडकर अमेरिका चली है। किन्तु उसके द्वारा छले जाने पर वह यथो न तस्थौ की दशा म परिस्थितियो के साथ बहती चली जाती है। उपन्यास मे भारतीय एव विदेशी सास्कृतिक असमानताओ को एव कल्चरल शाक को सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है। राधिका का विद्रोह अन्ततोगत्वा उसे पूरी तरह तोडकर असामान्य निणय के लिए उसे बाध्य करता है। अपनी सीमाओ म उपन्यास श्रेष्ठ है और नारी जीवन की सवथा नवीन समस्या को साकार करता है।

मन्नू भण्डारी का लेखन नारी की विवशता के अकन म ही सचेष्ट न रहकर

उससे बाहर सामाजिक समस्याओ को गम्भीरता से सस्पर्शित करते हुए सामने आया है। इनके उपन्यास पुरुषो के प्रति वैमनस्यपूर्ण दृष्टिकोण से लिखे न जाकर सामाजिकता की वास्तविकता को साकार करने म सचेष्ट रहे ह। राजेन्द्र यादव के साथ एक इच मुस्कान (१९६१) मे सहयोगी लेखन को विशिष्ट प्रयोग से समारम्भ करते हुए इन्होने अपनी निजी पहचान कायम की थी। 'एक इच मुस्कान' म नारी चरित्रो का विकास और प्रेम की करुणायित अनुभूति को अकित करते हुए इनके प्रयास सहयोगी लेखक की अपेक्षा अधिक प्रशसा प्राप्त कर सके थे। 'आपका बटी (१९७१) हिन्दी का प्रथम महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जो पति पत्नी की आपसी टकराहट को, अह की रक्षा मे सचेष्ट प्रयासो से उत्पन्न तनावो का और तलाक से उत्पन्न नवीन सामाजिक समस्या के रूप म 'बटी' की अपेक्षाओ को प्रस्तुत करना है। माता पिता के आपसी तनावा म (एव तलाक के उपरात भी) बच्चा उपनित होकर अकारण ही अपने प्राप्य से वचित हो जाता है। उसकी सवधन क्षमता को सयोजित करने वाले ततुओ को यो निममतापूवक कुचल दिया जाता है। तलाक की समस्यामूलक इस सामाजिक परिणति को उभारने म लेखिका सफल रही है। उपन्यास म बच्चे के कोण से कथा को प्रस्तुत किया गया है। जिससे समस्या का सद्धातिक पक्ष कथा पर हावी न होकर वायवीय जीवन प्रसगो म बच्चे की रागात्मिकता प्रवत्तियो को एव माँ बाप के स्नेह की महती अपेक्षाओ को यथाथ रूप म आकार ग्रहण करने का अवसर मिला है। 'महाभोज' (१९७९) वतमान राजनीति के बेबुनियादी आचरणा को सश्लिष्ट सामाजिक रचाव म प्रस्तुत करता है। शासनतत्र सारी नारे बाजी के बावजूद व्यक्ति के लिए कष्टप्रद दशाओ की ही सृष्टि करता है इस विचार को चुनावा के पूव के परिवेश मे एक ग्रामीण की हत्या के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कुटिल राजनीतिक हथकण्डे, निमम पुलिसतत्र एव व्यक्ति की सश्लिष्ट सामाजिक आचरणगतता को उपन्यास म उकेरा गया है। लेखिका की अपनी अनुभव सीमाओ के कारण उपन्यास आज के युगसत्य का जीवन्त दस्तावेज नही बन सका है और समस्या को सतही तौर पर छूकर आगे बढ जाता है।

सातवें दशक म ही नारी लेखन की एक और दिशा निर्धारित हो चुकी थी। (जिसका आठवें दशक म विपुल प्रचार हुआ) वह थी महिलाओ के द्वारा बोल्ड लेखन की परम्परा का सूत्रपात। शील की बेडियो म जकडी महिलाओ की लेखनी यौन सम्बन्धो, काम चेष्टाओ और रतिविषयक नारी दृष्टि को अकित करने मे असमर्थ थी। नारियो के अब तक के प्रयास अपने उग्रतम रूप म पुरुषो पर प्रत्याक्रमण करने म अथवा नारी व्यक्तित्व को पुरुषो के समकक्ष खडा करने मे परिलक्षित होते थे। किन्तु कृष्णा सोबती ने पहिली बार उपन्यासो म उन्मुक्त यौन सम्बन्धो, काम समस्याओ और पुरुष की निर्वीयता को अकित करने का

दुस्साहस कर पर्याप्त यशोपार्जन किया। इनके उपन्यास नारी की करुणगाथा पर आधारित न होकर उसके व्यक्ति रूप को केन्द्रित कर लिखे गए हैं। इनमें पीड़ा का मुखरित संसार न होकर समाज से बेलौस भाव से जूझने की भावना को साधिकार प्रस्तुत किया गया है। कृष्णा सोबती का लेखन यौन सम्बन्धों के अंकन के अलावा भाषा के आंचलिक मिठास एवं काव्यात्मक चारुता के कारण भी प्रशंसनीय रहा है। 'डार से बिछुरी' नीड़ से बाहर निकली नारी की पीड़ा भरी कहानी है। केन्द्रच्युत उल्कापिण्ड की भाँति केवल भटकन ही उसके हिस्से आती है जिससे यह पीड़ाओं के अनटूटे सिलसिले से जुड़ती चली जाती है। 'मित्रो मरजानी' एक धमाके की तरह आया और अपनी विस्फोटक सामग्री के कारण अत्यन्त चर्चित हुआ। संयुक्त परिवार की अंतरंग प्रामाणिक छवि उपस्थित करते हुए भी उपन्यास मूलतः नायिका सुमित्रावती (मित्रो) के निराले व्यक्तित्व के कारण लोकप्रिय हुआ। लहराते अदम्य कामज्वर से ग्रस्त नवयुवती मित्रो पति से काम सतुष्टि न पाकर परिवार के पूज्यों के समक्ष उसकी क्लीवता को निस्संकोच प्रकट कर जाती है। किन्तु पत्नीत्व के सनातन आदर्श से ही अन्ततः अपने अनियन्त्रित मन को नियन्त्रित करती है। 'मित्रो मरजानी' का महत्त्व वस्तुतः भारतीय साधारण मध्यवित्तीय परिवार की जीवन्त छवि अंकित करने में तथा रिश्तों का दुर्वहनिर्वाह, बहुओं की खटपट और मित्रो जैसी प्रचण्डा नारी के समानान्तर जेठी का सनातन भारतीय नारी चरित्र में है। इनका 'सूरजमुखी अँधेरे के' अपनी रूमानी भावुकता, काव्यात्मक भाषा विधान और चित्रण की चारुता से युक्त एक बलात्कृता नारी के आचरण को परिभाषित करता है। बालिका के रूप में उसका विद्रोह उग्र रूप में समक्ष आता है तो युवावस्था की घोर अंतर्मुखता में वह यौन सम्बन्धों के लिए अपने को निहायत बेजान और ठण्डी महसूस करती है। उसके जीवन में अनेक पुरुष आते हैं किन्तु नारीत्व की ऊष्मा के अभाव में वह अशक्त ही बनी रहती है। अन्त में एक फार्मूलायुक्त उपन्यास की भाँति नायिका के सुखद यौन प्रसंगों से रचना की सिद्धि भले ही सिद्ध हो जाती है किन्तु यह प्रसंग उसके प्रभाव को खण्डित ही करता है। 'जिन्दगीनामा' (१९७९) इनका ताजा उपन्यास है। आजादी के पूर्व के एक पंजाबी गाँव की जिन्दगी का वायवीय अंकन इसमें हुआ है। स्टिल फोटो दृश्यों की भाँति जीवन का विविधतापरक छाया चित्रमय स्वरूप इसमें अंकित है। कथाहीन नायकहीन यह उपन्यास आंचलिक सम्मोहन और भाषायी सौन्दर्य के कारण न केवल लेखिका की लेखन परम्परा से अपितु हिन्दी उपन्यास की आत्मारोपित लीक से प्रयोग के स्तर पर अलग हटने का सुष्ठु प्रयास है। दृश्यों की पुनरावृत्ति और समानता के कारण गहरी ऊब भी पैदा करता है।

शिवानी आज की बहुप्रकाशित, बहुप्रशंसित लेखिका हैं जिसने प्रेम की

रूमानियत की मायावी इन्द्रजाल में पिरोकर पाठकों तक पहुँचाया है। कथा का रूमानी संस्कार वर्णन कौशल, रोचकता के संवर्द्धक तत्वों से उत्प्रेरित होकर रोचकता की सृष्टि करता चलता है। कथा में हल्की सी रहस्यात्मकता, नारी चरित्रों में अपेक्षाकृत खुलापन, लुभावनी भाषा में इनके उपन्यास लोक प्रिय तो हो गए हैं पर श्रेष्ठ नहीं बन पाए हैं। पहाड़ी अंचल का पुट अवश्य पाठकों को खींचता है। 'चौदह फेरे' (१९६४) और 'मायापुरी' से अपनी पहिचान कराने वाली यह लेखिका 'कृष्णकली' (१९७०) से विशेष लोकप्रियता अर्जित कर सकी। कृष्णकली का निर्विरोध उन्मुक्त आचरण, कथा के अनेक नाटकीय विन्यास और चित्रण का अनूठापन पाठकों को बरबस ही खींच ले जाता है। 'भैरवी' (१९७२) तान्त्रिकों की आचरणगतता को समेटने के कारण विशिष्टता अर्जित कर सका है। 'श्मशानचम्पा (१९७२) प्रेमकथा के करुणायुक्त मिठास को प्रस्तुत करता है। 'कैंजा' (१९७३) में विमाता के प्रति वाल आचरण का अंकन है। रतिविलाप (१९७४), 'गैंडा' (१९७५), 'रथ्या' (१९७६), 'सुरंगमा' (१९७७) इनके अन्य साधारण उपन्यास हैं। शिवानी की लेखनी में सर्वत्र विद्यमान एकरूपता इसकी रचनाओं की प्रभावहीनता का हेतु बनी है।

शशिप्रभा शास्त्री का लेखन परम्परित नारी चेतन से शुरू होकर ऊँचाइयों तक पहुँचा है। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीरान रास्ते और झरना', और 'अमलतास' (१९६८) पुरुष की निर्ममता और नारी के भावुक भुलावे पर आधारित है। 'नावें' (१९७४) में अवैध मातृत्व को धारण करने वाली नारी के जुझारूपन को और एतद्विषयक नारी के परिवर्तित चिन्तन का उठाया गया है। उपन्यास का उत्तरार्द्ध ऐसी माताओं के सन्तानों के विवाह की सामाजिक समस्या को ठीक से प्रस्तुत नहीं कर सकने से नायिका के भय की और पति के प्रति असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार की कहानी भर होकर रह गया है। 'सीढ़ियाँ' (१९७६) इनका अन्य उपन्यास है।

इस दशक में उभर कर आने वाली अन्य लेखिकाओं में सोमा वीरा, मीरा महादेवन, बिंदु अग्रवाल, महरुन्निसा परवेज आदि भी उल्लेखनीय हैं। सोमा वीरा का 'तिन्नी' (१९६६) विदेशी परिवेश पर आधारित है किन्तु साधारण जासूसी उपन्यास से अधिक महत्व नहीं रखता। मीरा महादेवन का 'सो क्या जाने पीर पराई' (१९६०) करुणान्त साधारण प्रेमकथा है किन्तु 'अपना घर' (१९६१) भारतीयता व राष्ट्रीय भावनाओं को नए ढंग से चित्रित करने वाला विशिष्ट उपन्यास है। भारत में सदियों से बसे हुए यहूदियों के लिए भारत ही अपना घर है न कि अनपहिचाना इसराइल इस भाव को प्रभावशाली ढंग से अंकित करने में लेखिका सफल रही है। जबकि बिंदु अग्रवाल का 'मोहल्ले की बुआ' (१९६१) एक साधारण उपन्यास है जिसमें नारी सुधार की भावना को परम्परित मूल्यों के

आदर्शों मे उपदेशात्मक ढग से प्रस्तुत किया गया है।

मूल्याकन

सातवें दशक म आकर हिन्दी उपन्यास तीव्र गति से विकसित हुआ। पूववर्ती दशको से ही रचनारत उपन्यासकारो ने इस दशक म अनक महत्वपूर्ण उपन्यास दिए। इनकी कुछ उल्लेखनीय रचनाओ जसे—'अमृत और विष', 'चारु चन्द्रलेख', 'अपने-अपने अजनबी', 'सीधी सच्ची बातें,' 'एक नन्ही किन्दील' 'यह पथ बन्धु था', 'ऋतुचक्र' 'अँधेरे बन्द कमरे', 'अनदेखे अनजान पुल' आदि के साथ साथ अनेक अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ भी पूववर्ती पीढी के लेखको द्वारा प्रस्तुत की गई। इनके साथ इसी दशक से गरिमापूवक आगे आने वाली पीढी के लेखक जसे निमल वर्मा, राही मासूम रजा, भीष्म साहनी, श्रीलाल शुक्ल, महेन्द्र भल्ला, राजकमल चौधरी, शानी, रमेश बक्षी, आदि के द्वारा भी महत्त्वपूर्ण उपन्यास प्रस्तुत किए गए। इस दशक म महिला लेखिकाओ की विशिष्ट कृतियाँ भी गरिमापूवक सामने आइ। हिन्दी उपन्यास की इस अभिनव किन्तु अन्यतम उपलब्धि म रजनी पनिक्कर, उषा प्रियवदा, मन्नू भण्डारी, शिवानी, शशिप्रभा शास्त्री आदि लेखिकाओ का योगदान अन्यतम महत्त्व रखता है।

सातवें दशक के उपन्यास म पूववर्ती दशको के उपन्यासो की अपेक्षा जीवन के वहत्तर क्षेत्रो को समेटा गया है। व्यक्ति की निजता को उसकी आत्म केन्द्रित मनोवत्तियो के परिपाश्व में अधिक गहराई से अकित किया जाने लगा। व्यक्ति वाद का स्वरूप जनेन्द्र की लीक की भाँति आचरणगत असामान्यता पर आधारित व्यक्तिवाद न रहा बल्कि उपस्थित सामाजिक यथाथ स परिवेष्टित कटुताओ के आहत व्यक्ति की आतरिकता का व्यक्तिवाद बनकर समक्ष आया। सामाजिकता के विपरीत मूल्यवादी आचरण के स्थान पर स्वय मूल्यो को ही परखने के उपक्रम हुए। मूल्य अब अपनी अथवत्ता खोकर या तो बमानी हो गए अथवा उन्ह व्यक्ति आचरण का सक्षम आधार नही माना जाने लगा। कही कही मूल्य विरोधी भाव इतना प्रबल हुआ कि सिफ ऐसी दष्टि की अवमानना करना ही कथा का उपजीव्य बन गया। पीढीगत अन्तराल की भावना लेखन का प्रबल हथियार बनी जिसकी सहायता से परम्परित जीवनादर्शों पर प्रबल प्रहार किए गए। उस सारी जीवन पद्धति को उसके सारे साच को और उस समूची मूल्य वादी दृष्टि को अस्वीकार दिया गया जिसका आधार प्राचीन भारतीय आस्था वादी रुख अपनाए हुए थे। या उस नकली आदशवाद को सलीब पर टाँगे जाने के लिए ऐसी कथा भूमियाँ प्रस्तुत की गइ जिनका आधार अनास्था और अविश्वास था। निश्चय ही इस प्रक्रिया म यथाथ का सुन्दर बुद्धिसगत कथा उपयोग हुआ किन्तु अतिया मे उसके नाम पर नग्न यथाथ के भौंडे, अनावश्यक चित्र भी खीचे

गए। जीवन के सामने आने की प्रवृत्ति इसी आधार पर पनपी जिसकी परिणति मूलतः उन्मुक्त यौन चित्रणों और एतद्विषयक सोच को ही प्रस्तुत करने में हुई। 'वे मछली मरी हुई' में स्त्रियों के समलैंगिक सम्बन्ध, 'आधागाँव' में भाषायी असंयम, 'एक पति के नोट्स' में व्यक्ति आचरण की यौनाश्रितता को ही उपन्यास में अंकित करते हुए लेखकों का आगे आना इसी भाव की सूचना देता है। दूसरी ओर लेखन की उत्तरदायित्वपूर्ण चेष्टाएँ भी हुई। मुख्यतः ऐसे प्रयास पुरानी पीढ़ी के लेखकों की ओर से ही अधिक हुए किन्तु नए लेखकों ने भी इस दिशा में आगे बढ़ने की चेष्टाएँ कीं। 'धूपछाँही रंग', 'न दिन', 'अलग-अलग वैतरणी', 'कालाजल' जैसे उपन्यास इसी दिशा में किए गए गम्भीर प्रयास हैं।

युगीन बोध के विविध आयाम विविध कथा भूमियों के रूप में अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत हुए। जीवन का अंकन एकदिशोन्मुखता पर आधारित न रहकर वृहत्तर मानवक्षेत्रों की ओर उन्मुख हुआ यद्यपि प्रेम ही अब भी उपन्यास का केन्द्रीय विषय बना रहा। समस्याओं तथा मानवीय आचरण के अंकन में अतिशय भुकाव परिलक्षित हुआ और दृष्टि में व्यंग्य का स्वरूप गहराया। व्यवस्था की अस्वीकारने के लिए स्थितियों को उभारा गया तथा व्यंग्य की सहायता से आक्रामक मुद्रा में सामाजिक अन्तर्विरोधों पर प्रबल प्रहार किए गए। व्यंग्य की चरम परिणति 'राग दरबारी' जैसे उपन्यासों में दृष्टिगत हुई जहाँ वह कथा का एकमात्र प्रतिपाद्य हो बन गया। शहरी जीवन के अनेकमुखी स्वरूपों का अंकन सहानुभूतिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। ठीक न पूर्ववर्ती दशक में आंचलिकता की जिस प्रवृत्ति का औपन्यासिक गरिमा का अंग बना दिया था उसका अब ह्रास होने लगा। आंचलिकता का सम्मोहनकारी स्वरूप अपने तिलिस्म से अब पाठकों को अभिभूत न कर सका। उसके स्थान पर शहरी जीवन के समानान्तर रहने वाले आत्मपूर्णता में खोए हुए ग्रामीण जीवन का अधिक ईमानदारी से अंकन किया जाने लगा। इसके अलावा इस दशक में पहली बार विदेशी जीवन का भी हिन्दी उपन्यास का विषय बनाया जाने लगा। विदेशी पात्र, परिवेश और उनकी सांस्कृतिक धारा अब हिन्दी उपन्यास की थाती बनी किन्तु इस धारा का विकास क्षीण रूप में ही हुआ।

इस दशक के उपन्यासों में मूल्यवादी दृष्टि में भी पर्याप्त परिवर्तन परिलक्षित हुए। मूल्यों के विरोध या अविश्वास भरे पूर्ववर्ती लेखकों के दृष्टिकोण के साथ साथ अब मूल्यहीनता का अंकन भी सविस्तार किया जाने लगा। जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में भौतिक सत्यों का यथार्थ स्वीकार्य हुआ और परम्परा का प्रश्न के घेरे में लिया जाने लगा। इस कारण इस दशक में उपन्यासों का सर्वप्रमुख विषय आधुनिकता और परम्परा का द्वन्द्व ही बन गया। आधुनिकता की स्वीकारोक्ति प्रबल हुई तो मूल्यों के प्रति अविश्वास के कारण परम्पराओं को नकारने का भाव

समक्ष आया। व्यक्ति का सत्य आधुनिक युग सम्पृक्ति को प्राप्त हुआ और उसी के अंकन में लेखक के प्रयासों में बढ़ोत्तरी हुई। सोच का यह रूपान्तरण पीढ़िगत अन्तराल को उजागर करने लगा। उपन्यास के चरित्र समान परिस्थितियों में खोए रहकर भी अन्ततोगत्वा इस अन्तराल के आधार पर अलग अलग दिशाओं में आचरण करते हुए नजर आए।

इस समय के उपन्यासों का व्यक्ति पहिले की अपेक्षा अधिक अपूर्ण, अधिक टूटा हुआ, अधिक निराश और अधिक कामातुर दिखाई देता है। उसका चित्रांकन अनेक रूपों में उपन्यास में आया है। सांस्कृतिक जड़ता से ग्रस्त यह व्यक्ति आधुनिकता की ओर तेजी से बढ़ता नजर आता है। अनास्थाएँ इसमें मूल्यविरोधी भाव भरती नजर आती हैं। इस समय का नायक भव्य एवं औदात्ययुक्त व्यक्तित्व से टूटकर एक साधारण व्यक्ति के रूप में ही अधिक अंकित हुआ है। नारी के प्रति असहिष्णुता इसमें प्रबल हुई तो इस समय की नारियाँ पीड़ाओं की साकार प्रतिमाएँ बनी रहने की जगह प्रतिस्पर्द्धी भाव से पुरुषों के समक्ष खड़ी होने की चेष्टाएँ करने लगीं। राजनैतिक दबाव इस व्यक्ति पर गहराए तो आर्थिक समस्याएँ और भी विकरालता से सामने आईं। उसकी विपन्नता और आर्थिक कठिनाइयों को उग्रता, बेबसी, समलैंगिकतापरस्ती घुटन आदि अनेक रूपों में व्यंजित किया गया। इन जीवन दशाओं के अंकन में प्रगतिशीलता एक ऊर्जा बनकर समक्ष आई। किन्तु उपन्यासों में सायास खींच लाया गया यह प्रगतिवाद किताबी तथा प्रचारवादी होकर रह गया। व्यक्ति के साथ अंतर्ग्रथित होकर यह उसके जीवन की हिस्सेदारी नहीं निभा सका।

इस दशक का उपन्यासकार अपने अभिप्रेत को अंकित करने के लिए विशेषतः सचेष्ट है। इसमें नयी कविता के कवि की भांति की छटपटाहट है। वह भाषा को इतना सक्षम नहीं पाता कि वह उसके विशिष्ट अनुभव को ठीक ठीक प्रस्तुत कर सके। उसमें वह अनेक प्रकार के प्रयोग करता दृष्टिगत होता है। रेणु की परम्परा की आंचलिकता, हजारीप्रसाद जी की सांस्कृतिक रवानी कृष्णा सोबती की काव्यात्मकता, राजकमल की वैचारिकता निर्मल वर्मा की विरल वाग्बोध अनुभव को भी मुखरित करने की सिद्धहस्तता, शिवानी की संस्कृतनिष्ठता में अंग्रेजी का पुट, श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य भाषा की अदम्य अकुलाहट के परिणाम ही हैं। इन उपन्यासों में भाषा के चलताऊ रूप से लेकर संस्कारशीलता के अनेक आयाम हैं। यही बात इस काल के शिल्प के संदर्भ में भी दृष्टिगत होती है। अभिनव शिल्प प्रयोगों से यह रचनाकार रचना के प्रभाव के प्रति विशेष जागरूक दिखाई देता है। प्रेमचन्द काल से चले आ रहे परम्परित उपन्यास शिल्प के प्रति अरुचि और भी प्रबल हुई। कथ्य की प्रषणीयता के प्रति संलग्नता का भाव सघन हुआ जिससे कथा की स्थूलता पूरी तरह समाप्त हो गई। घटनाओं का स्थान

स्थितियो और दशाओ ने ले लिया तो समानान्तर एव अवान्तर प्रसग अपनी महत्ता खो बैठे। उनके स्थान पर पात्रो के आचरण को रूपायित करने वाली मनोवैज्ञानिकता अब कथा का अविभाज्य अग बन गई। सश्लिष्टतम जीवन दशाओ के अकन के लिए सघन प्रयास परिलक्षित हुए शिल्प सवद्धन के अनेक उपाय अपनाए जाने लग और उपन्यास के प्रभाव को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने की सजगता पहली बार अधिक गम्भीरता से परिलक्षित हुई। यद्यपि शिल्प के प्रति अतिशय सलग्नता की यह भावना कही कही बेमानी होने के कारण ऊब पदा करने वाली सिद्ध हुई और ऊपरी चमक दमक को पैदा करने भर का प्रयास कर सकी।

लघु उपन्यास इस दशक की महती उपलब्धि है। पूववर्ती दशको म भी लघु उपन्यास लिखे गए किन्तु इस दशक मे यह प्रवत्ति पूरी तरह से उपन्यास का अग बन गई। इसके विपरीत महाकाव्यात्मक प्रवत्ति के विशालकाय उपन्यास भी लिखे गए किन्तु वे मुख्यत पूव स्थापित लेखको के प्रयासो से ही लिखे गए वरना उपन्यास मूलत अब अपनी अन्तवति म प्राय लघुता की ओर ही अग्रसर हुआ।

सातवें दशक का उपन्यास या अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूण बनकर सामने आया तो अनेक रूपो म अपनी त्रुटियो के कारण वह साधारणता को ही प्राप्त कर सका। जीवन का यथाथ अब अधिक प्राणवान हुआ तो शिल्प प्रयोग अब घिस पिसाकर रह जाने वाले प्रयास भी बन गए।

आठवे दशक का उपन्यास भय, आतक और अव्यवस्था का काल

आठवें दशक का इतिहास स्वतन्त्र भारत के इतिहास मे विशिष्टतम और असामान्य रहा है। बाह्य एव आतरिक दबावो, उथल पुथल और परस्पर विरोधी स्थितियो के कारण इस समय की परिस्थितिया स्वतोविरोधी और सश्लिष्टतम कही जा सकती हैं। इस दशक म राजनीतिक घटनाचक्र जितनी तेजी से प्रवाहित हुआ देश की सामाजिक स्थितिया उतनी ही त्वरा से उलझनमयी होती चली गइ।

दशक के प्रारम्भ म ही बगला देश के शरणार्थियो की बाढ न और उसके बाद के भारत पाक युद्ध न अथ यवस्था पर प्रतिकूल असर डाला। युद्ध म अभूतपूर्व विजय लोगो के लिए मँहगाई, मुद्रा स्फीति और कीमतो म आकाश छूनी ऊँचाइयो की विभीषिका को सौगात रूप म ले आई। अभाव, भूख, अकाल बाढ, बेकारी के बादल अधिक गहराई स मँडराने लगे तो व्यक्ति का अस तोष तीव्रतम रूप म उपस्थित हुआ। राजनीति म सिद्धा तहीन आचरण अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँचा और आयाराम गयाराम का दौर राजनेताओ की पदलिप्सा और सुविधा भोगिता को ढीठता पूवक प्रकट करने लगा। अराजकता और अ यवस्थाएँ अपने भीषणतम घातक रूप को प्रस्तुत करने लगी। हिंसा, लूटपाट, बलात्कार, डाका जनी, आगजनी, घेराव, हडताल, ब द, तालाब दी, दहेज, भ्रष्टाचार, काला बाजारी, हत्याएँ, आत्महत्याएँ दन दिन जीवन की पहिचान बनी। साम्प्रदायिकता का जहर सवभग्मी रूप म उपस्थित होकर सबको ग्रस गया। इस विषम वातावरण म राजनीतिक परिवतनो का दौर आया। तीन-तीन मध्यावधि चुनावो के खोखले नाटको के अलावा आपातकाल के आतककारी स्वरूप को भी जनता को झेलना पडा। जनता शासन की आधारहीनता भी भोगी तो सिफ परिवारो का पोषित करन वाली काग्रेसी शासन की कुव्यवस्थाए भी जन मानस को झेलनी पडी। यो यह पूरा दशक परिवतन, बदलाव, अराजकता, अ यवस्था, आपाधापीजनित अस तोष का दौर कहा जा सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर इतनी बडी समस्याएँ और इतनी अस्थिरता इससे पहिले कभी दिखाई नही दी थी। इसके परिणामस्वरूप इस

दशक का मानव जीवन भी देश म पूर्वापेक्षा अधिक बदला हुआ नजर आया।

निराशा, घुटन, हताशा के इस दौर म आशावधक कई अय प्रसग भी दिखाई दिए। विकास की योजनाआ स बढती जनसख्या के बावजूद अन की आत्म निभरता उल्लेखनीय उपलब्धि रही। उत्पादन म स्वालम्बिता आई तो विदशी व्यापार म भी बढोत्तरी हुई। अतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय वज्ञानिक उपलब्धियाँ यथा पोकरण का अणु विस्फोट आयभट्ट एपल आदि का विस्थापन आदि ने भारत की साख को बढाया। आम व्यक्ति की सहभागिता का सवधन हुआ और उसके प्रति राष्ट्रीय उत्तरदायित्वा का विकास हुआ।

विश्व के रगमच पर भी यह दशक विषमताआ मे परिपूर्ण रहा। तेल की राजनीति ने विश्वभर म मदी पदा कर दी। परस्पर निकट आते राष्ट्रा म तनाव और कटुता की लहर व्याप गई। बगला देश, कम्पूचिया, अफगानिस्तान ईरान इसराइल पालड रोडेशिया आदि ने युद्धा, तनावा आपसी मतभेदो को बढाया। तीसरी दुनिया के देशा की महत्ता का गम्भीरता से स्वीकारे जाने पर भी उनका शोषण-दोहन अवमदन बदस्तूर जारी रहा। मानवीय सकट को भी अनुभव किया जाने लगा किन्तु हथियारो की होड प्रतिस्पर्द्धी भावना को भडकाती रही। मानव के अस्तित्व पर गहराते सकट का भाव प्रश्नचिह्न-सा सारे विश्व पर लटका रहा किन्तु उसका कोई समाधान नही खोजा जा सका। यद्यपि इस ओर किए गए प्रयासो म एक उल्लखनीय उपलब्धि मानवीय अपवत्ता की स्वीकारोक्ति है। मानवतावाद का यह नवीन स्वरूप आज के मानव चितन पर अधिक प्रामाणिकता अजित कर सका।

अस्तु आठवे दशक का भारतीय और अतर्राष्ट्रीय परिवश पूववर्ती [illegible] अवलम्बित होकर ही एक विकसित कडी होकर भी उनस भिन और स्वतत्र है। [illegible] हीनता का भाव इसम भी छाया रहा पर राजनीतिक, आथिक [illegible] के विपुल दवावा से यह वोध कुछ अधिक तल्खी भरा, [illegible] दिखाई दता है। इही के परिपार्श्व म इस दशक का [illegible] बौना टूटा शकालु और अनास्थामय बना रहा। [illegible] समाज अकित हुआ है वह परिवेशगत सत्यों म [illegible] छठे दशक क लेखका ने अपन पूववर्ती लेखकों [illegible] थी उसम अभी तक रागात्मक जुडाव [illegible] आठवें दशक का उप यासकार [illegible] जुडकर रचना कम म प्रवत्त हुआ। [illegible] का सवधन हुआ किन्तु विपय [illegible] देती जमी पांचवें दशक क [illegible]

इस दशक म व चारों [illegible]

जिन्होने आजादी के बाद अलग-अलग समयो म लिखना शुरू किया और प्रसिद्धी प्राप्त की। आजादी से पूव स्थापित लेखको न भी इस दशक मे उल्लेखनीय रचनाएँ दी। जैनेन्द्र का 'अनामस्वामी', हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'पुनर्नवा', 'अनामदास का पोथा', भगवतीचरण वर्मा का 'सबहिं नचावत राम गुसाइं', यशपाल का 'तेरी मेरी उसकी बात', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'एक नन्ही किन्दील', अमृतलाल नागर के 'मानस का हंस', 'नाच्यौ बहुत गोपाल', 'खजन नयन', डा० देवराज के 'भीतर का घाव', 'दूसरा सूत्र' आदि इसी दशक म प्रकाशित हुए। समुपस्थित परिवेश के प्रति रागात्मक दृष्टि और उसके यथाथ का अकन इन्होंने समसामयिक अन्य रचनाकारो की ही भांति किया है। इन लेखको के ये उपन्यास इस दशक की गणनीय उपलब्धियो म देखे जा सकते है।

नवलेखन के दौर के लेखको न भी आठवें दशक म उल्लेखनीय रचनाएँ दी। इनम मोहन राकेश का 'अन्तराल', कमलेश्वर के 'काली आंधी', 'आगामी अतीत', नरेश मेहता का 'उत्तरकथा', गिरधर गोपाल का 'कन्दील और कुहासे' आदि रचनाएँ देखी जा सकती हैं। इस दौर के अधिकाश लेखक जसे धमवीर भारती, राजेन्द्र यादव, फणीश्वरनाथ रेणु आदि जो नवलेखन आन्दोलन के साथ तेजी से सामन आए थे अब चुक गए और कोई भी उल्लेखनीय उपन्यास नही द पाए। इससे यह भावना दृढ होती है कि नवलेखन का दौर जिस तेजी से उभरा था उतनी ही तेजी से समाप्त भी हो गया। और जो लेखक उस आंधी के साथ साहित्याकाश म छा गए थ व ठोस जमीन के अभाव के कारण अधिक टिक नही पाए और बिखर कर रह गए।

सातवें दशक स उपन्यासकारो की जो नई पीढ़ी सामने आई थी उनम से अधिकाश ने इस दशक म भी श्रेष्ठ साहित्य प्रदान करते हुए अपनी क्षमता का प्रदशन किया। निमल वर्मा क 'लाल टीन की छत' और 'एक चिथड़ा सुख' भीष्म साहनी के 'तमस' और 'बसन्ती', राही मासूम रजा का 'कटरा बी आर्जू', महेन्द्र भल्ला का 'दूसरी तरफ', रमेश बक्षी का 'खुलआम', शिवप्रसाद सिंह का 'गली आगे मुड़ती है', मन्नू भण्डारी का 'महाभोज', शिवानी का 'भरवी', कृष्णा सोबती का 'जिन्दगीनामा' इत्यादि ऐसे ही श्रेष्ठ उपन्यास है।

आठवें दशक का उपन्यास पाठकों के लिए आशाजनक और निराशाजनक स्थितियों को एक साथ सामन लेकर आया। उसके प्रति लेखकीय जिज्ञासाएँ परस्पर विरोधी दिशोन्मुखता लेकर आई। इस दशक म जो नयी पीढ़ी गरिमा पूवक सामन आई उसक तवर पूर्वापेक्षा परिवर्तित दिखाई देते हैं। इनम मोहभग का अवसाद अनुभव उतना प्रबल नहीं है जितना कि पूववर्ती दशक के लेखकों म था। न नवलेखन क लेखकों का सा काल्पनिक निराशावाद ही इनम प्रमुख है। इस कारण ये जीवन की वास्तविकताओ म स्वय अधिक सचाई से जुड़े हो सके

और उन्हें अभिव्यक्त कर सकें। यथार्थ के नाम पर सोची हुई रोमांटिक प्रेम कहानियों की विफलताओं भर का अंकन करने की जगह उनकी सामाजिकता की विषम स्थितियों से उत्पन्न समस्याओं को उसके परिवेश के सत्य के साथ प्रस्तुत कर सकें। इस रूप में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भले ही इन लेखकों का नाम स्थापित लेखकों की सी सम्मानजनक गरिमा के साथ न लिया जाता हो और न इनके उपन्यासों की उतनी अधिक चर्चा हुई हो तथापि इन बातों से इन लेखकों की रचनाओं का महत्त्व कम नहीं हो जाता है।

इन नवोदित लेखकों में नरेन्द्र कोहली, गोविन्द मिश्र कामतानाथ, बदीउज्जमाँ, मणि मधुकर, गिरिराज किशोर, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, गंगाप्रसाद विमल, मालती जोशी, मृदुला गर्ग, दीप्तिखण्डेलवाल, दिनेशनन्दिनी डालमिया, सूर्यबाला, इत्यादि प्रमुख हैं। इस काल में अनेक ऐसे उपन्यास भी अत्यन्त लोकप्रिय हुए जिनके लेखकों का नाम भले ही अनजाना रहा हो किन्तु जिन्होंने स्फुट रूप में श्रेष्ठ उपन्यास प्रदान किए।

नरेन्द्र कोहली आठवें दशक के मूर्धन्य उपन्यासकारों में से एक हैं। युगीन चिन्तन का औपन्यासिक इस्तेमाल कर इन्होंने अपनी विशिष्टता विज्ञापित की है। आज के व्यक्ति के जीवन की पग पग पर की असुरक्षा को और ऊपर से छोटे-छोटे दिखाई देने वाले किन्तु उसके आचरण को दूर तक प्रभावित करने वाले भयकारक तत्त्वों को प्रभावशाली ढंग से इन्होंने अपने 'आतंक' (१९७२) में अंकित किया है। शहरी जीवन की आतंकग्रस्त अस्मिता को साधारण व्यक्ति के जीवन में अभिव्यक्त करने वाली यह विशिष्ट रचना है। किन्तु नरेन्द्र कोहली की विशिष्टतम उपलब्धि इनका रामकथा पर किया गया महत्त्वपूर्ण प्रयास है। राम की कहानी पर वाल्मीकि से लेकर आज तक अनेक रचनाकारों ने अपने अपने ढंग से (युगीन परिस्थितियों के परिपार्श्व में) चिन्तन किया है और उसे नये सन्दर्भों में अभिव्यक्ति दी है। उसी परम्परा में नरेन्द्र कोहली ने रामकथा को जनवादी विचारधारा के आधार पर अपने पाँच उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। राम का लोकनायकत्व जो तुलसी ने प्रस्तुत किया था उसी भाव को भिन्न चिन्तन के आधार पर इन उपन्यासों में वाणी मिली है। दीक्षा (१९७५) इस परम्परा का पहला उपन्यास है जिसमें रामकथा को नयी जमीन देते हुए राम को क्रान्ति का अग्रदूत बनाया गया है। राम के प्रयास जनक्रान्ति का उन्नयन करते हुए लोक में अभिनव सोच को विस्तार देने वाले प्रयास बतलाए गए हैं। अहिल्या की अन्तकथा दीक्षा का मार्मिकतम प्रसंग है। रामकथा का यह बुद्धिग्राह्य स्वरूप ही इस उपन्यास को आज के शिक्षित व्यक्ति के लिए उपेक्षणीय नहीं रहने देता। अवसर (१९७६) इस परम्परा का दूसरा खण्ड है जिसके वनवासी राम में विषम सामाजिकता के भयकारक हेतुओं के उन्मूलन की कटिबद्धता है। इसमें

अव्यवस्था, अराजकता के समक्ष विवश होकर आज के शिक्षित व्यक्ति के द्वारा पलायन कर जाने के भाव को राक्षसों के भय से छुपे हुए आश्रमों के निर्माता प्रबुद्धचेता ऋषियों के चिन्तन से सामंजस्य स्थापित कर निरूपित किया गया है। 'संघर्ष की ओर' (१९७७) पीड़ित नारी समाज के सर्वव्यापी स्वरूप को प्रस्तुत करता है। ऋषिगण सर्वद्रष्टा होकर भी अपने ही घरों में होते नारी के शोषण को नहीं देख पाते। लेकिन बाहर के राक्षसों के अत्याचारों से नारी मुक्ति की बात का धड़ल्ले से कह जाते हैं। बुद्धिजीवी (ऋषियों) का सत्ता से गठजोड़ भी इस उपन्यास में दिखाया गया है। दो भागों में प्रकाशित होने वाला 'युद्ध' (१९७७) उपन्यास इस कथा के समापन को सार्थक ढंग से प्रस्तुत करता है। अपनी समग्रता में ये दोनों खण्ड शोषितों द्वारा शोषकों के विरुद्ध छेड़े गए स्वतन्त्रता के युद्ध की कहानी हैं। पिछड़ी अनुन्नत जातियों का सीधे लंकापति पर आक्रमण उस स्वातन्त्र्य पिपासा का प्रमाण है। कोहली के इन सभी उपन्यासों में पूरी तरह ऐसा नहीं लगता कि लेखक ने सिर्फ रामकथा को आधुनिकता से ही अभिमण्डित किया है अपितु आद्योपान्त यह भी स्पष्ट होता चलता है कि मूलकथा के अविरोधी रहकर भी परम्परित मिथकों की अभिनव व्याख्या करना ही उसका उद्देश्य है। यद्यपि 'दीक्षा' में जो रचनात्मक ताजगी है, ताजगी है वह परवर्ती उपन्यासों में नहीं है और वे सभी स्थापित रामकथा के मानक से पूरी तरह जकड़े हुए हैं। और यह भी कि दीक्षा लिखने के बाद जैसे लेखक चुक गया है और जो कुछ उसे कहना है वह कह चुका है इसकी प्रतीति होते हुए भी कोहली के सारे उपन्यासों में लेखन के जिस धैर्य, लगन, परिश्रम, सोच की अभिव्यक्ति के आधार, मौलिकता और रचना की आद्योपान्त अन्विति इन उपन्यासों में दिखाई देती है वे लेखक की सफलता को प्रमाणित करती है। इनके अन्य उपन्यास हैं साथ सहा गया दुःख' (१९७४), 'पुनरारम्भ' (१९७२), 'आश्रितों का विद्रोह' (१९७३), मेरा अपना संसार' (१९७५)।

गोविन्द मिश्र इधर तेजी से आगे बढ़ने वाले उपन्यास लेखक हैं। आज के यथार्थ को इन्होंने उसकी समूची विद्रूपताओं के साथ शहरी एवं ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों के जीवन परिवेश में चित्रित किया है। 'वह/अपना चेहरा' (१९७०) व्यवस्था के समूचे तन्त्र को ही नकारते हुए प्रशासन के हास्यास्पद स्थितियों को प्रस्तुत करता है। केशोराम के रूप में प्रशासनिक अधिकारी का आचरण और उसको लील जाने वाली प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्षरत 'वह' अन्ततोगत्वा इतना हार जाता है कि जिस स्थिति के प्रतिकूल वह अपनी समूची ताकत से अब तक जूझ रहा था वहाँ आकर वह स्वयं भी वैसा ही आचरण करने को बाध्य हो जाता है। व्यक्ति का या पुर्जा बनकर मशीनी व्यवस्था का अंग बन जाना उस जीवन्त अनुभव का प्रतीक है जो आज का अति पहचाना, अति परिचित सत्य है। आज के

मुहावरे को पकड़े रखना उपन्यास की भाषा की विशेष उपलब्धि है। 'उतरती हुई धूप' (१९७१) परिवर्तित मूल्यों का जीवन्त दस्तावेज है। 'लाल पीली जमीन' (१९७६) में आज के परिवेश में व्याप्त उस भयानक हिंस्र शक्ति का उन्मुक्त अंकन है जिसके समक्ष व्यक्ति की समस्त सन्चेष्टाएँ जीवटपन, जिजीविषा असहाय होकर टूट बिखर गई है। यह असहायता व्यक्ति की निरुपायताजनित अपनी पराजय की स्वीकारोक्तियों पर एवं निलज्ज शौर्य के फूहड़, भोंडे, बेलौस प्रदर्शन के आपसी सम्बन्धों पर आधारित है। इस दशा के वास्तविक प्रदर्शन के कारण यह उपन्यास वर्तमान सामाजिक जीवन के यथार्थ का जीवन्ततम रूप है। 'काँपती उँगलियाँ (१९७३), 'वह अपना चेहरा' इनके अन्य उपन्यास हैं। गोविन्द मिश्र का लेखन या युगीन अव्यवस्थाओं की शिकार नयी पीढ़ी की बेचारगी, निरुपाय दशा, अति प्रचलित भद्रापन, ढीठ निलज्ज आचरण के मिथ्याचार और व्यक्ति की निर्मम सामाजिकता से टकराकर हतचेष्ट हो जाने की बेचारगी को सटीक ढंग से अभिव्यक्त करता है।

कामतानाथ का रचना संसार हिन्दुस्तान के भीतर के दूसरे हिन्दुस्तान की खोज में संलग्न है। समानान्तर भाव से गतिमान इस क्षेत्र की जीवन दशाएँ समूचे मानव आचरण का विपर्यय है और जो अपनी विघटनकारी स्थितियों में समूचे मानवीय आचरण को विदिशा देता रहता है। 'एक और हिन्दुस्तान' (१९७४) जेल के भीतर अपनी समस्त विद्रूप विसंगतियों से विद्यमान दूसरे ही हिन्दुस्तान की नंगी तस्वीर प्रस्तुत करता है। हड़ताली कर्मचारियों का राजनीतिक बन्दियों के रूप में जेल की तीर्थयात्रा और जेल के भीतर के आतंक राज इस लघु उपन्यास में चौंका देने वाले अनुभवों के साथ प्रभावशाली ढंग से वर्णित हुए हैं। 'तुम्हारे नाम' (१९७९) साधारण प्रेमकथा होकर भी रचाव और प्रभाव दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रेमदिवानी नायिका का प्रेमी के छलावे में आकर गृहत्याग और उस प्रेमी युगल का भटकाव ही उपन्यास का कथ्य है। प्रेमी की लापरवाही, गुस्सा, उपेक्षा, सन्देह को झेलकर क्रमश टूटते हुए नायिका के द्वारा आत्महत्या कर लेना अत्यन्त मार्मिक ढंग से वर्णित हुआ है। उपन्यास में प्रत्यक्षत वर्णित न होकर भी नायिका का चरित्र बेजोड़ है। ऐसा मार्मिक चित्रण इधर के उपन्यासों में दिखाई नहीं देता।

बदीउज्जमाँ दफ्तर के सत्य का उन्मेष करने वाले अनूठे कलाकार हैं। फंतासियों के सहारे व्यवस्थातन्त्र की ऊबाऊ एकरसता, हृदयहीन आचरण, संवेदनरहित पतरेबाजी, तन्त्र की माया का विस्तार और समाज निरपेक्ष प्रभुसत्ता का मद तथा उसके दुष्परिणाम इनके उपन्यासों में वर्णित हुए हैं। फंतासी की प्रतीकात्मकता से समूची विघातक अव्यवस्था को संकेतित कर इन्होंने पाठकों के लिए एक नए कथा संसार की सृष्टि की जिसने आज के रचनाक्रम को

भी दूर तक प्रभावित किया। 'एक चूहे की मौत' (१९७१) व्यवस्था के भौंडे सत्य को फैंटेसी के द्वारा वर्णित करता है। बदीउज्जमा की मुद्रा आक्रामक नहीं है वह भोक्ता की पीड़ाओं को अंकित करने में सिद्धहस्त हैं। भोग की उस ऊर्जा के नहीं जो विद्रोह को साकार करती है। यद्यपि इनके प्रयासों की इयत्ता केवल फंतासियों के काल्पनिक जगत को ही अंकित करने तक परिसीमित नहीं है वरन उस मारक प्रभाव को भी उत्पन्न करने में ये सक्षम हैं जो पाठक को उद्वेलित कर जाता है। चूहे के प्रतीक से क्लर्क को चूहेमार की ओर फाईल को चूहे की संज्ञा देकर दफ्तर के नीरस आचार को वर्णित करने की व्यंग्यात्मक प्रतीति ही उपन्यास का इष्ट नहीं है उपस्थित आर्थिक दशाओं के कारण क्लर्क की साधारण नौकरी भी व्यक्ति की अनिवार्य मजबूरी है। जोंक की तरह उससे चिपके रहने को वह मजबूर है और व्यवस्थातन्त्र के नुकीले पंजे उसे चूहेमार की साधारण हैसियत भी बनाए नहीं रहने देते। 'छठा तन्त्र' (१९७७) पंचतन्त्र के आगे बढ़कर वर्तमान कालीन नए तन्त्र पर व्यंग्य करता है। 'छाको की वापसी' (१९७५) मध्यवर्गीय त्रासदियों को प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। 'अपुरुष' इनका अन्य उपन्यास है।

मणि मधुकर ने रेगिस्तान के आंचलिक परिवेश को अपने उपन्यासों में आधुनिक दृष्टि से जीवन्त करने की चेष्टा की है। इनका लेखन रेतीले विस्तार के मध्य आम दुनिया से असम्पृक्त रहकर ठहरी हुई उदास जिन्दगी के बेमानी क्षणों का आलेखन है। अपने उपन्यासों में मणि मधुकर परिवेश को जीवन्त बनाने में जितने सफल रहे हैं उतने ही उस जीवन के विशिष्ट स्वरूप को अंकित करने में विफल रहे हैं। मानो शहर के जीवन का भोक्ता लेखक टेबिल पर बैठकर उस जीवन का अंकन कर रहा हो जो उसने पहले कभी देखा है। 'सफेद मेमने' (१९७१) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें पश्चिमी राजस्थान की मरुभूमि में स्थित एक गाँव की बेजान, स्थिर, ऊब भरी जिन्दगी के बोझिल लम्बे क्षणों को चित्रित किया गया है। किन्तु कथ्य पर सतही पकड़ के कारण इस जीवन्त परिवेश का वह सही उपयोग नहीं कर सका है जिससे कहानी में साधारण व्यक्ति छवियाँ भर उभर सकी हैं। कथा की इस कमी का लेखक ने अप्राकृतिक यौनाचार और ऐसे ही चटपटी बातों से पूरा करने की चेष्टा की है लेकिन वह उसमें पूर्ण असफल रहा है। 'सफेद मेमने' इसी कारण एक समन्वित प्रभाव अंकित करने में सर्वथा विफल रहकर एक साधारण रचना मात्र होकर रह गया है। 'पत्तों की बिरादरी' (१९८०) पाकिस्तान के सीमावर्ती क्षेत्र के लोगों की मानसिकता को अकाल अकाल राहत कैम्प और ऐसे ही अन्य सरकारी प्रयासों के वर्णन उनकी सदाशयता के संदर्भ में प्रकट करता है। यह उपन्यास भी भाषा के स्तर पर अंचल को बलात् साकार करने की विफल चेष्टा भर है।

गिरिराज किशोर [illegible] उपन्यासों में राजनैतिक [illegible] व्यवस्था को [illegible] गहरे तक प्रभावित [illegible] किया गया है। [illegible] जिस तरह [illegible] इनकी रचनाएँ [illegible] आकार [illegible] के पाठकों तक [illegible] उन से [illegible] इनकी [illegible] ([illegible] [illegible] दबन्दे जो [illegible] मनोवृत्ति को [illegible] लौकि [illegible] मूल होने के [illegible] भाव ही [illegible] है। [illegible] और दो [illegible] मानाएँ ([illegible]) [illegible] का प्रामाणि[illegible] है। [illegible] परि[illegible], [illegible] किया है।

साथ साथ 'मुरदाघर' मौजूदा राज्य व्यवस्था पर विरोधात्मक प्रहार नहीं करता, न उसकी भ्रष्टता की बात कहकर ही उपराम हो जाता है बल्कि उसकी निरर्थकता और अनुपयोगिता को बुनियादी तौर पर प्रकट करने की पुरजोर कोशिश करता है। उपन्यास की नारी भी एक व्यक्ति है। पुरुष संस्कृति द्वारा सदियों से निर्मित एक वस्तु या उपकरण मात्र नहीं है। अनेक मतभेदों, टीका टिप्पणियों के बावजूद आज के सडांध भरे युग का जिसमें मुरदा लाश बेतरतीबी से ठूस दिए गए है, उपन्यास सही सार्थक चित्रण करता है। 'एक कटा हुआ आसमान' (१९७१) सक्सेना का अन्य उपन्यास है।

रेणु ने ग्रामीण जीवन के सजीव पहलुओं को आंचलिकता की ओर धकेल दिया था। इससे अनछुए तटों का स्पर्श हुआ और उपन्यास को एक सर्वथा असम्पृक्त नवीन क्षेत्र उपलब्ध हुआ। अंचलों की सोंधी मिठास से हिन्दी उपन्यास सुवासित हुआ। किन्तु ऐसी रचनाओं में अंचल का सामूहिक जीवन इतना हावी हो गया कि व्यक्ति की इकाई रूप उसके समग्र दब कर रह गया। समाज और जीवन तो मुखरित हुआ पर इनका आधारभूत सत्य व्यक्ति अपनी निजता के साथ उभर नहीं पाया। यों ग्रामीण जीवन का यथार्थ समस्या प्रसूत सामूहिकता को ही प्रस्तुत कर पाया और प्रेमचन्द की परम्परा उपेक्षित होकर रह गई। आठवें दशक में जब आंचलिकता की बाढ उतर गई तो ग्रामीण कथा क्षेत्र व्यापक व्यक्ति सत्य को समेटकर पुनः उपन्यासों में उपस्थित हुए। ऐसे रचनाकार सामने आए जिन्होंने ग्रामीण यथार्थ को उसी के परिवेश और पात्रों के मानसिक बोध से परिवेष्टित कर प्रस्तुत किया। इनमें जगदीशचन्द्र, बलवन्तसिंह, विवेकीराय इत्यादि लेखकों को देखा जा सकता है।

जगदीशचन्द्र के उपन्यास ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक स्वरूपों से उत्पन्न विषमताओं पर आधारित है। इनका सत्य ग्रामीण सामाजिकता के अंतर्विरोधों, परम्परागत निर्जीव मान्यताओं, अंधविश्वास के ढकोसलों, जातीय भावना के मिथ्यादर्शों जर जोरू जमीन को लेकर उभर आते तनावों, असवर्णों की अछूत त्रासदियों के साथ साथ आर्थिक दृष्टि से भूख, गरीबी और अभाव से जूझती मानव चेष्टाओं पर आधारित है। वैसे तो कमोबेश यह स्वर समस्त ग्रामीण कथानकों पर आधारित उपन्यासों का है तथापि जगदीशचन्द्र की लेखनी की क्षमता जितनी सूक्ष्म है और उपन्यासों की बुनावट जितनी सहज है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। 'धरती धन न अपना' (१९७२) स्थानिक यथार्थ को अंकित करता है। चौधरियों और हरिजनों के संघर्ष के रूप को आधार बनाते हुए उपन्यास हरिजनों की पीडाओं का आलेख प्रस्तुत करता है। सामन्ती मूल्यों से जकडे ग्रामीण समाज के विरुद्ध हरिजनों की बगावत का प्रयास उपन्यास में उस नए सोच का समर्थन करता है जो अब गाँव में असम्भव नहीं रहा। 'कभी न छोडें

खेत' (१६७६) पंजाब के सिख जाटों की जातीय प्रवृत्तियों और व्यवसायगत आचरणगतता को वाणी देता है। सामाजिक-आर्थिक सीमाओं में अन्यों की तरह बँधे रहकर इन पात्रों का आचरण जिस विशिष्टता को लिए हुए है उसको लेखक ने जीवन्त बना दिया है। ग्रामीण पारिवारिक जीवनक्रम, उनके चिन्तन की दिशाएँ और आचरण के उत्प्रेरक पहलू उपन्यास को विश्वसनीय बना देते हैं। ग्रामीण कथानक पर ही इनका 'मुट्ठी भर कांकर' (१९७६) आधारित है जबकि 'आधापुल (१६७३) और 'टुण्डालाट' इनके युद्ध उपन्यास है।

बलवन्तसिंह के उपन्यास भी पंजाब के जाटों के जीवन्त दस्तावेज हैं। किन्तु इनके उपन्यास मारधाड़ से भरपूर फिल्मी कथानकों की तरह के उपन्यास है। पौरुष, शौर्य, बल, शक्ति साहस के धनी जाट सिखों का यह तेज छोटी छोटी बातों को लेकर जिस भाँति विदिशा को प्राप्त होता रहता है उसको इनके उपन्यासों में वर्णित किया गया है। इनके पात्र अक्खड़ता, बदमिजाजी, गुस्सैल तबियत, झगड़ालूपन, हिंसक प्रतिशोध का भाव के कारण निराली छवि धारण किए रहते है। लड़ाई के तर्कसंगत आर्थिक हेतुओं को खोजकर उनसे कथानक का निर्माण करने की जगह ये ग्रामीण सामाजिकता के अंतर्विरोधों और सामन्ती दम्भ को चुनौती देने वाले व्यक्ति चरित्रों की सृष्टि करते है। ऐसे में पात्रों का जातीय चरित्र उनके आचरण को परिचालित करने वाला निर्णायक तत्त्व बनकर समक्ष आता है। 'दो अकालगढ़' एक गाँव के दो पक्षों के आपसी तनाव और संघर्ष की गाथा है। उपन्यास में लड़ाई और मुठभेड़ें अनेक रूपों में सामने आकर तनाव के निर्पेज उदय को प्रस्तुत करते है। 'चकपीरा का जस्सा' (१६७७) हिंस्र भावना से भरी हुई रोमांस कथा है। प्रेम का यह अनोखा रूप पीढ़ियों दर पीढ़ी चलती विचित्र सोच की दिशा को निर्दिष्ट करते चलता है। 'साहिबे आलम' (१६७६) सलीम-अनारकली की प्रेम कथा है। मध्यकालीन सामन्ती चेतना का व्यापक चित्रण इस प्रेम प्रसंग के सहवर्ती रूप में हुआ है। प्रेम और हिंसा का यह सम्मिलित रूप जो ग्रामीण जीवन में विकसित होता है और अन्ततोगत्वा सामन्ती जकड़ को चुनौती देने के रूप में समक्ष आता है, की भावना इनके 'रात चोर और चांदनी', 'राका की मंजिल (१६७१) उपन्यासों में भी दिखाई देती है।

विवेकीराय के उपन्यासों का ग्रामीण यथार्थ माटी की सोंधी खुशबू से महकता नजर आता है। इनमें न तो प्रेम की हिंसामयी टकराहट है न जातीय तनावों से उलझी सामाजिकता ही वरन इनमें जीवन की सच्ची बानगी अपने जीवन्ततम रूप में उपस्थित है। भाषा की जादुई सम्मोहिनी से, आंचलिकता के सबल स्वरूप से इनके उपन्यासों की प्रभविष्णुता और भी गहराई है। 'पुरुष पुराण' (१६७५) ताजा लिखे गए ग्रामीण यथार्थ के उपन्यासों में विशिष्ट है। समूची आस्था के साथ उलझी सामाजिकता में व्यक्ति आचरण के सत्यों के अनुसंधान का इसमें

सुन्दर प्रयास हुआ है। हरिजन चेतना की विवशताएँ इसकी उपलब्धि हैं। 'बबूल' कँटीली जीवन दशाओ की अमर गाथा है। परम्परा से अलग हटकर इन्होंने 'श्वेतपत्र' (१९७९) म १९४२ के भारत छोडो आन्दोलन को अंकित किया है। बिहार के सीमावर्ती प्रदेश एव बलिया गाजीपुर के अचल म राष्ट्रीयता की यह भावना जिस रूप मे करवट ले रही थी उसे वाणी देने म लेखक पूर्ण सफल रहा है। स्वतत्रता का सघर्ष नए सदभ म इसम उजागर हुआ है।

नरेन्द्र कोहली न जिस प्रकार रामकथा को आधुनिक सदर्भ देकर नया कलेवर प्रदान किया है उसी भाँति के अन्य प्रयास भी इस दशक म हुए। किन्तु इनम दृष्टि का फैलाव ऐतिहासिक चरित्रो की पुनर्व्याख्या म अधिक विस्तार पा सका है। इनम युग को जीवन्त करने के स्थान पर शोधार्थी इतिहासकार के प्रामाणिक प्रयास अधिक हुए हैं। ऐतिहासिकता के ये नूतन आयाम ख्यात कथा के यथातथ्य परक अकन की जगह उनका व्यक्तिपरक एव मार्मिकता से युक्त चित्रण करते हुए उसे नयी दृष्टि से समझने समझाने की चेष्टा करते है। इनमें इतिहास का स्वरूप भव्यतामण्डित मिथकीय औन्नत्य से सयुक्त न होकर उसकी वास्तविकताओ के प्रति आग्रही दृष्टिकोण वाला रहा है। वीरेन्द्र कुमार जन का भगवान महावीर के जीवन पर चार भागो म प्रकाशित उपन्यास 'अनुत्तर योगी तीर्थकर महावीर' (पहला खण्ड १९७४, दूसरा खण्ड १९७५) विशेष उल्लेखनीय है। आनन्द प्रकाश जन के 'ताँबे के पसे' (१९७२) 'कठपुतली के धाग', 'आठवी भाँवर' इत्यादि उपन्यास हैं। इकबाल बहादुर देवसरे के 'सुल्तान ए मलिका' (१९७२), 'नवाब व मुल्क' (१९७६), उमाशकर का 'सूरय (१९७४) शिवसागर मिश्र का 'मगध की जय' मनोहर श्याम जोशी का 'उत्तराधिकारी', रामनाथ त्रिपाठी का 'शख सि दूर' (१९७४), शालिग्राम मिश्र का 'खजुराहो की नगरवधू (१९७२) इत्यादि उल्लेखनीय है।

इस दशक के ऐतिहासिक उपन्यासो म विशेष गरिमा को धारण करने वाला उपन्यास है राजीव सक्सेना का 'पणिपुत्री सोमा (१९७२) प्रागैतिहासिक काल (वदिक काल) के एक काल खण्ड की यह कथा तत्कालीन युगीन अतर्धाराओ को व्यापकतम रूप म प्रस्तुत करता है। वदिक जन जीवन, नर नारी सम्बन्ध, सन्तति के कुल का निर्धारण, आर्यों की सामाजिक आचरणगतता, दासो के प्रति दृष्टि कोण सभी कुछ प्रामाणिक और निर्दोष ढग से विस्तार पा सके हैं। इसी भाँति सुमगल प्रकाश का 'जय पराजय (१९७१) भी इधर लिखा गया बहु प्रशसित ऐतिहासिक उपन्यास है।

इस दशक म महिलाओ द्वारा प्रभूत मात्रा म लिखे गए उपन्यासो का देखते हुए समूचे आठवें दशक को महिलाओ के लेखन का दशक कहा जा सकता है। यद्यपि ऐसा कहना पूर्णत तक सगत नही ठहरता। क्योकि इससे इस काल म

गरिमापूर्वक लिखे गए पुरुष लेखकों के प्रयास महत्त्वहीन होकर दबे रह जाते हैं। तथापि इस दशक में महिलाओं के उपन्यासों की जो एक बाढ़ सी आती हुई दिखाई देती है वह अभूतपूर्व और चौंका देने वाली है और उसे नकारा नहीं जा सकता। इस दशक में महिला लेखन पूर्ववर्ती दशक से और भी गहराई को प्राप्त हुआ। उनका यथार्थ विश्वसनीय हुआ। उनकी दृष्टि संस्कारित होकर पुरुषों की तरह के आधुनिक बोध को पकड़ सकी और सक्षम रूप में उसे अभिव्यक्ति दे सकी। इनका अनुभव अभी तक वस्तुतः नारी केन्द्रित ही रहा है। इस कारण इनके उपन्यासों का संसार एक प्रेमिका, एक पत्नी, एक माँ के अनुभवों को ही वाणी दे सका। 'महाभोज', 'मित्रोमरजानी', 'बेघर' जैसे इने गिने उपन्यास इसके अपवाद रूप हैं जहाँ कथा का ध्रुवीकरण एकमेव नारी की मनोदशा पर ही केन्द्रित नहीं है। विफल प्रेमकथाओं, पुरुष के नारी के प्रति किए जाने वाले घृणित आचरणों, नारी के संघर्षों आदि को ही इनके उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया। उससे बाहर आकर जो नारी व्यक्तित्व खड़ा किया गया उसमें दृढ़ता, आत्मविश्वास, पुरुष के प्रति प्रतिस्पर्द्धि भाव, सामाजिक चुनौतियों से जूझने की ललक, मूल्यों के प्रति अविश्वासमयी दृष्टि और नारी की परम्परित वर्जनाओं, निषेधों, मर्यादाओं, सदाचारशील-जन्य जड़ताओं से बाहर आकर तेजी से भागती दुनिया के साथ नवबोध को धारण करने की अदम्य अभिलाषा इनमें दिखाई देती है। उनकी सामाजिकता के हेतुओं के प्रति इन लेखिकाओं का दृष्टिकोण सामयिक चिंतन पर आधारित है। राजनीतिक एवं आर्थिक दबावों को प्रस्तुत करने का अभी भी इनमें लज्जाजनक अभाव है। इसी भांति इन लेखिकाओं ने विदेशी जीवन को तो अनेक उपन्यासों में समेटा है किन्तु ग्रामीण जीवन इनकी रचनाओं में पूर्णतः अनुपस्थित है। १९७६ के महिलावर्ष ने इनके लेखन को प्रोत्साहित ही नहीं किया इनमें अपने लेखन के प्रति विश्वासमयी भावना भी भर दी जिससे इन्होंने विपुल साहित्य सर्जन किया। संख्या की प्रचुरता के साथ साथ महिलाओं द्वारा लिखे गए नए उपन्यासों का दशक की समस्त रचनाओं में उल्लेखनीय महत्त्व भी है।

इस दशक में पूर्व स्थापित लेखिकाओं रजनी पनिक्कर, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्वदा, कृष्णा सोबती, शशिप्रभा शास्त्री के साथ साथ अपनी विशिष्ट पहिचान बनाने वाली नवोदित लेखिकाओं में ममता कालिया, मृदुला गर्ग, सूर्यबाला, मालती जोशी इत्यादि प्रमुख हैं।

ममता कालिया का लेखन परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व को प्रस्तुत करता है। सामयिक भारतीय जन जीवन जिस रूप में द्विधाग्रस्त होकर परस्पर विरोधी असंगत, विडम्बनापूर्ण दोहरा आचरण करता नजर आता है उसके यथार्थ को इन्होंने सूक्ष्मता से पकड़कर अंकित किया है। सांस्कृतिक अवधारणाएं आज भी युवा मानस को जकड़े रखकर उसे परम्परामुक्त नहीं होने देती। जबकि युग की

आवश्यकताएँ उसे बरबस आगे खींचने की चेष्टा करती रहती हैं। इस कारण आज का युवा रुचि से आधुनिक होकर भी संस्कारों में जड़ और परम्परावादी है। इस कटु सत्य का ममता कालिया ने परमजीत के माध्यम से अपने उपन्यास 'बेघर' (१९७१) में वर्णित किया है। महिला द्वारा रचित पुरुष केन्द्रित एकमात्र उपन्यास 'बेघर' संस्कारों और आधुनिकता के द्वन्द्व का सुन्दर आलेख है।' 'नरक दर नरक' (१९७५) युवा संघर्षशीलता और चुनौतियों से जूझने की क्षमता को आधुनिक समस्याक्रान्त जीवन के मध्य उपस्थित करता है।' 'प्रेम कहानी' (१९८०) इनका साधारण उपन्यास है।

मृदुला गर्ग का लेखन नारी केन्द्रित होकर भी आधुनिक बोध को धारण किए हुए है। अपनी निजता को परिभाषित करने में सचेष्ट नवयुवती की अस्मिता को पारिवारिक जीवन के मध्य तलाशने का प्रयास 'उसके हिस्से की धूप' (१९७५) में किया गया है। नायिका का जीवन की सार्थकता हेतु पति को छोड़कर अन्य पुरुष का वरण करना, मोहभंग प्राप्त करना तथा कथा की त्रि आयामिता का निर्वाह उपन्यास की उपलब्धि है। 'चित्तकोबरा'(१९७५), साधारण रचना होकर भी मसालेदार सम्भोग प्रसंग के कारण चटखारे ले लेकर पढ़ी गयी रचना है। वंशज (१९७६) एक सशक्त, रचना है जिसमें स्वतंत्रता संग्राम के प्रयासों के राजनीतिक विषयों को उपन्यास में समेटा गया है।

सूर्यबाला की रचनाएँ नारी की सामाजिक सीमाओंजनित विवशताओं एवं उनसे प्रेरित सन्धिपत्रों को स्वीकारने की बाध्यता पर आधारित हैं। इनकी नारी सक्षम समर्थ और प्रतिभावान होकर भी पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में विवशता पूर्वक समझौते करने की नियति को ढोती नजर आती है। 'मेरे सन्धि पत्र (१९७६) वय एवं आर्थिक दृष्टि की अनमेलता के कारण नारी के द्वारा पग पग पर लिखे जाने वाले सन्धिपत्रों की बात बतलाता है। नारी की सीमाएं ही उसकी पीड़ाओं का हेतु बनते हुए उसके लिए विकल्पहीन हो जाती है। इस उपन्यास सक्षमता से प्रस्तुत कर सका है। सुबह के इन्तजार तक इनका अन्य उपन्यास है।

मालती जोशी का लेखन परिवार की सीमाओं में बँधा रहकर भी अद्वितीय है। एक ही परिवार में रहते हुए प्रतिस्पर्द्धि भाव के कारण उत्पन्न दुवह दशाएँ, अनजाने ही किया जाने वाला तुलना का भाव, सपत्नी की पीड़ा, पति की उपेक्षाएँ संतति प्रेम आदि को इन्होंने आधुनिक जीवन दशाओं में सटीक अभिव्यक्ति दी है। 'ज्वालामुखी के गर्भ में' परिवार की उन विषम परिस्थितियों का अंकन करता है जिनके कारण प्रत्येक सदस्य का जीवन दूभर हो जाता है और घर सुलगते ज्वालामुखी सा दहकता रहता है। 'पाषाणयुग' अनमेल विवाह और दूसरी पत्नी की पीड़ाओं को पुरुष की निर्ममता के परिपार्श्व में प्रस्तुत करता है।

'पटाक्षेप' (१९७८) मध्यवर्गीय नारी के स्वीकारों-अस्वीकारों के मध्य उलझते मानसिक उद्वेलन को प्रकट करता है।

इसी लेखन परम्परा म अनेक नवोदित लेखिकाओं के उपन्यास देखे जा सकते हैं जिनसे आठवें दशक का उपन्यास समृद्ध हुआ। मंजुल भगत के प्रेम के त्रिकोण को प्रस्तुत करने वाला 'टूटा हुआ इन्द्रधनुष' (१९७६), आधुनिका नारियों पर व्यंग्य करने वाला लेडीजक्लब (१९७६) निम्नवर्गीय नारियों की पीड़ा को वाणी देने वाला 'अनारो (१९७६) एव 'क्या छूट गया आदि उपन्यास है।

दीप्ति खण्डेलवाल और निरुपमा सेवती इस दशक म कहानियों के क्षेत्र म छाई रही किन्तु इनकी औपन्यासिक कृतियाँ उतनी उल्लेखनीय नहीं बन पड़ी हैं। दीप्ति का 'प्रिया (१९७६) सनातन प्रेम छद्म पर आधारित है जिनके कारण नारियाँ सदा से पुरुषों द्वारा छली जाती रही है। कोहरे (१९७७) 'प्रतिध्वनियाँ (१९७८) इनके अन्य उपन्यास है। निरुपमा सेवती का 'पतझड की आवाजें' (१९७६) पुरुष के समकक्ष नारी व्यक्तित्व को सम्मानित करने का विफल प्रयास है। दफ्तर के माहौल म नारी का सम्मान जिस तरह अवमर्दित किया जाता है उसका अच्छा अकन कथा म हुआ है। 'बँटता हुआ आदमी (१९७७) फिल्मी दुनिया की आतरिक आधारहीनता व घिनौनी आचरणगतता को प्रस्तुत करता है।

अपेक्षाकृत पुरानी मान्यताओं म ग्रस्त लेखिकाओं ने भी मूल्यहीन व्यवहारों के सदर्भ मे पुरुषो के आचरण को बेनकाब करते हुए उपन्यास लिखे हैं। दिनेश-नन्दिनी डालमिया न मुझे माफ करना' (१९७४) म धनिक सेठ के दोहरे आचरण का मुखरता से वर्णन किया है। यादो की वैशाखियाँ (१९७७) इनका अन्य उपन्यास है। मालती परूलकर का 'इन्नी' (१९७३) साधारण प्रेमकथा है पर इसम साम्प्रदायिक एकता को नई दिशा दी गई है। 'बाली 'मुक्ता' (१९७८) इनके अन्य साधारण उपन्यास है जबकि एक अरसा हुआ' (१९८१) एक प्रकार से 'इन्नी' का ही दूसरा खण्ड है जिसम मानवीय भावनाओं का शोधपरक अन्वेषण प्रयास हुआ है।

शारदा मिश्र न हरिजनो के प्रति सामाजिक अन्याय को राजनीतिक आन्दोलनों और आजादी के पूर्व की राष्ट्रीय सामाजिक स्थितियों के सदर्भ म प्रस्तुत किया है। हरिजन समस्या पर लिखा गया इनका नयना अत्यन्त महत्व-पूर्ण रचना है। कृष्णा अग्निहोत्री ने नर नारी सम्बन्धो का ही उपन्यासो का विषय बनाया है 'बात एक औरत की (१९७४) छली गई नारी की पीड़ा का आलेख है। टपरवाले' निम्नवर्गीय जीवन की बासदी है। कान्ता भारती ने भी यौन चित्रणो से उपन्यास की कथा को सुसज्जित कर आगे आने की चेष्टा की है।

'रेत की मछली' (१९७५) आत्मकथापरक ढंग से लिखी गई नारी जीवन की विडम्बनापूर्ण गाथा है। कान्ता सिन्हा का 'सूखी नदी का पुल' आदर्श प्रेम और प्रेम के लिए किए गए त्याग की सनातन मूल्यवादी दृष्टि को प्रकट करता है। सुनीता का 'सफर के साथी' (१९७२) मातृत्व से वंचिता नारी की छटपटाहट और अधय को सफर के समानान्तर विकसित कहानी में वर्णित करता है।

इसी परम्परा में उन नवोदित लेखिकाओं का नाम लेना अनिवार्य है जिनका कृतित्व अभी अभी प्रकाश में आया है और जिनमें से अधिकांश के बारे में मूल्यवान विश्लेषण होना अभी बाकी है। इनका लेखन अपनी क्षमता का प्रदर्शन करता है तो प्रचार की बैसाखियों की बानगी भी देता है। इनमें शुभा वर्मा के 'कोलाज', मुहूर्त, उषाबाला का 'कुन्ती के बेटे (१९७७) निर्मला जैन का 'मुग्धा'(१९७३), वाणीराय का 'मेरी आंखों में प्यास (१९७१), मृणाल पाण्डे का 'विरुद्ध, शुभा वर्मा का 'कोई एक', मालिका मोहिनी का 'पार न कहा था (१९७९) कुसुम अंसल के 'उसकी पंचवटी' और 'उस तक' बाला दुबे का 'बोम (१९८०), शशि धवन का 'शपथ (१९७९), सुनीता जैन के 'अनुगूंज, बिन्दु', मीनाक्षी पुरी का देस निकले (१९८१), बिन्दु सिन्हा का 'सागरपाखी' (१९७५) प्रकाशवती के 'अनामा', 'चार परतें' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इन लेखिकाओं ने विशेष प्रसिद्धि तो नहीं पाई है किन्तु इस दशक की समृद्धता में महती भूमिका अवश्य निभाई है।

विदेशी लेखकों के हिन्दी उपन्यास

हिन्दी के क्षेत्र विस्तार के साथ आजादी के बाद विदेशों में भी हिन्दी साहित्य सृजन के प्रयास होने लगे। सातवें दशक तक तो केवल विदेशी परिवेश को ही हिन्दी उपन्यासों में स्थान मिला था। शिक्षा व्यवसाय के कारण बहुत से हिन्दी भाषी अन्य देशों में बस गए और वहाँ से हिन्दी में रचना करते हुए हिंदी साहित्य की वृद्धि करते रहे। किन्तु आठवें दशक में न केवल दो बार विश्व हिंदी परिषद आयोजित हुए वरन विदेशी होकर भी हिन्दी में उपन्यास लिखने वाले लेखक भी सामने आए। भिन्न परिवेश एवं भिन्न सांस्कृतिक स्थितियों में रहते हुए भी ऐसे लेखकों की पकड़ आश्चर्यजनक ढंग से भारतीयता के अत्याधिक निकट है। ऐसे लेखकों में मारीशस के अभिमन्यु अनत 'शबनम' का नाम उल्लेखनीय है। इनके उपन्यासों में वर्ग वैषम्य और दलित चेतना को कुशलतापूर्वक उकेरा गया है। एक बीघा प्यार (१९७२) आन्दोलन (१९७१), 'जम गया सूरज (१९७३), तीसरे किनारे पर' (१९७६) 'तपती दोपहरी (१९७७), लाल पसीना' (१९७८), 'हड़ताल कब होगी' (१९८१) इनकी उपन्यास रचनाएँ है। नेपाल के धूस्वां सायमि का नाम भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। मंदासी में

मराव', 'रत की दरार' (१९७५), 'जलजना' (१९७६) आदि इनके उपन्यास है। निस्सन्देह इन विदेशी लेखकों के लेखन से हिन्दी उपन्यास सही अर्थों में व्यापक क्षेत्र को समेटने वाले अनुभवों का जीवन्त दस्तावेज बन सका है।

दहलीज छूते पांव

आठवें दशक में उपन्यास सर्वप्रिय विधा बन जाने से उपन्यास लेखकों की एक लम्बी कतार दिखाई देती है। इस दशक में साहित्यिक पत्रिकाओं की अल्प काल व्यापी बाढ़ भी आई और शमित भी होती गई। इनमें उपन्यासों की चर्चा अनेक रूपों में हुई, नए-नए प्रकाशक भी समक्ष आए जिन्होंने उपन्यास प्रकाशन से परहेज नहीं किया। गोष्ठियों में उपन्यासों पर भी चर्चाएँ हुई तथापि अनेक लेखकों उपन्यासों के साथ सम्पूर्ण न्याय नहीं हो सका। अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास सराहे जाकर भी हिन्दी उपन्यासों की प्रथम पंक्ति में स्थापित नहीं किए जा सके। लेखकों की भीड़ में अपनी पहिचान बनाने में सक्षम होकर भी अनेक उपन्यासकार गणनीय लेखकों में परिगणित नहीं हुए। इसके अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण यह भी है कि कालक्रम की दृष्टि से आठवां दशक (जो अभी अभी समाप्त हुआ है) अभी तक इतना निकट है कि इस काल की रचनाओं के साथ (समीक्षाक्रम के लिए अपेक्षित आवश्यक दूरी के अभाव में) न्याय नहीं किया जा सका। इस दशक में जो रचनाएँ और लेखक प्रकाश में आए उनमें से अधिकांश को जितना उछाला गया है वे उतनी योग्यता नहीं रखते या जिनको भुलाया या अनदेखा किया गया है वे उतने अनदेखा किए जाने जैसे नहीं है। द्वार पर खड़े ये लेखक और उपन्यास मानो दस्तक दे रहे है। सच मुच ही इनमें से अनेक ऐसे है जिनके साथ अब अधिक अन्याय नहीं किया जा सकता। भविष्य इनको स्वीकारेगा इसमें सन्देह नहीं पर इनमें कई कमाखियों के सहारे ही चर्चित हुए है इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। योग्यता को आगे लाने के लिए नकली प्रयासों को अस्वीकारना भी अनिवार्य होगा।

योगेशकुमार का 'टूटते बिखरते लोग' (१९७४) अमरीकी समाज के सामाजिक और पारिवारिक जीवन की विच्छिन्न, विस्फोटक दशा को प्रकट करता है। भौतिक सम्यता का चरम मानव के लिए किस रूप में अभिशाप बन गया है इस प्रश्न को उपन्यास सक्षमतापूर्वक प्रस्तुत करता है। केवल सूद का मुर्गीखाना' (१९७५) विद्रूप सामाजिक सत्यों को व्यंग्य के आधार पर प्रस्तुत करता है। श्रवणकुमार का प्रत' (१९७३), स्नायुओं के तीक्ष्ण तनावों में भरे हुए जीवन की यथार्थ गाथा है। महीपसिंह का 'यह भी नहीं (१९७६) महानगरीय जीवन त्रासदियों को उजागर करने वाली कथाकृति है। निर्मलकुमार का आग्नी (१९७८)जीवन के मूल स्वरूप को समझने और मार्ग प्राप्ति के लिए की गई मानव

चेष्टाओं का दार्शनिक प्रयोग है। 'बिन उदगम का स्रोत' (१९७७) दो भागों में लिखा गया इनका अन्य उपन्यास है। देवेश ठाकुर का 'भ्रमभंग' (१९७८) युवा पीढ़ी के विश्वासों और टूटन भरे मोहभंग का आलेख है। भीमसेन त्यागी का 'नगा शहर' (१९७७) मशीनीकरण, शहरीकरण और आर्थिक दुश्चक्रों को प्रकट करने वाली जीवन्त फन्तासी है। रमेशचन्द्र शाह का 'गोबर गणेश' (१९७९) मध्यवर्गीय पहाड़ी युवक की विफल संघर्षगाथा है। यह मूल्यहीनता की दशा में आदर्शों के पराजय को साकार करता है। सुदर्शन मजीठिया का द्वितीय महायुद्ध में वीरता का आदर्श उपस्थित करने वाले भारतीय सैनिकों पर प्रकाश डालने वाला तथा युद्ध में सैनिक की व्यक्तिगत संवेदनाओं का प्रस्तुत करने वाला उपन्यास 'तोपों के साथ में (१९७७) वस्तुतः युद्ध की विभीषिका को प्रस्तुत करते हुए उसके प्रति घृणा उपजाता है। अनूपलाल मण्डल का 'उत्तर पुरुष' दो पीढ़ियों के मध्य फैली मान्यता और जीवन दृष्टि का नैतिकता के संदर्भ में परम्परित ढंग से प्रस्तुत करता है। दाम्पत्य सम्बन्धों के तनावों को झेलते पति की संघर्षगाथा को यौनाचार और सामाजिकता के नाटकीय निर्वाह के मध्य प्रस्तुत करने वाला भानु खोलिया का सत्तर पार के शिखर (१९७७) भी एक विशिष्ट उपन्यास है। लेखक की दूसरी रचना टूटते हुए सूर्यबिम्ब' (१९८०) है। वल्लभ डोभाल का 'अतकथा' आचलिक सत्यों को जीवन्त बनाते हुए धर्म के आडम्बरमय, भयकारक स्वरूप पर आक्रमण कर उसके आतरिक स्वरूप को प्रस्तुत करता है। श्रवणकुमार गोस्वामी का 'जगलतन्त्रम' (१९७७) व्यवस्था की अराजकता के चरम रूप को फन्तासी के रूप में प्रकट करता है। आपातकाल का घिनौना शासनतन्त्र इसमें अपनी समूची क्रूरता से उल्लिखित हुआ है। सुदर्शन चोपड़ा का 'प्रतिकार' (१९७८) घोर व्यक्तिवादी दृष्टि को प्रकट करने वाली आधुनिकता की काल्पनिक एब्सर्ड सृष्टि है। 'रिश्ते (१९७४), 'सम्मोहन प्रतिकार' 'सीमान्त से नाटो' इनके अन्य उपन्यास है। जीतेन्द्र भाटिया का समय सीमान्त (१९७७) मध्यवर्गीय नवयुवक की विपन्न आकांक्षाओं की कहानी है। हृदयेश का हत्या निम्नवर्गीय चरित्रों के व्यथा को अंकित करने वाला जीवन्त व्यंग्यचित्र है। 'गाँठ', 'एक कहानी अतहीन (१९७१) इनकी अन्य रचनाएँ हैं। अशोक अग्रवाल का वायदा माफ गवाह' (१९७५) व्यंग्य फन्तासी है। सतीश जमाली का प्रतिबद्ध' (१९७४) युगीन सत्य की कहानी है। इब्राहीम शरीफ का 'अँधेरे के साथ समाज की विषमताओं से जूझनेवाले आम आदमी की उस भ्रान्ति की फन्तासी है जो समाज को बदल सकने के सपने देखता रहता है। सुदर्शन नारग का अपने विरुद्ध अहं पर आधारित पति पत्नी के द्वन्द्व को साकार करता है। रमाकान्त का 'छोटे छोटे महायुद्ध (१९७७) आज का पिसता हुआ जीवन जी रही निम्नवर्गीय मानसिकता का आलेख है। अशोक शुक्ल

का 'प्रोफेसर पुराण' (१९७७) कॉलेज के विमगन जीवन को हास्य के तेवर में प्रस्तुत कर हास्य प्रधान उपन्यासों के नए रंग को सामने लाता है। सुरेश कान्त का 'ब से बक' भी हास्यरस प्रधान रचना है। मनोहर श्याम जोशी का 'कुरु कुरु स्वाहा' (१९७९) तीनतल्ला नायक के माध्यम से फिल्मी दुनिया की खोखल का चलताऊ किन्तु प्रभावशाली भाषा में प्रस्तुत करता है 'कसप' (१९८१) इनका अन्य उपन्यास है।

इस दशक में उपन्यासों की यह सुदीर्घ परम्परा अन्य अनेक लेखकों के उपन्यासों से भी समृद्ध हुई है जिनमें दामोदर सदन के 'वृहन्नला' और 'नदी के मोड़ पर' विनोदकुमार शुक्ल का 'नौकर की कमीज' (१९७९), मोहरसिंह यादव का 'बंजर धरती', सुभाष दीपक का 'एक दराज दुःख' (१९७३) अजीत पुष्कल के 'कंधे से टँगी बगावत' (१९७३) 'देहगन्ध' (१९७१), श्रवणकुमार का 'प्रेत' (१९७५) प्रणवकुमार बन्द्योपाध्याय के 'ईश्वर बाबू अनुपस्थित थे' (१९७२) 'बर्फ के रंग का शरीर' (१९७२), और 'खबरें' (१९७८), विपिन अग्रवाल का 'बीती आप बीती आप', रवीन्द्र वर्मा के 'किस्सा तोता सिर्फ तोता' (१९७७), शंकरलाल (१९७७), 'गाथा एक शेखचिल्ली की' योगेश गुप्त के 'उनका फैसला' (१९७७), 'अनायास' (१९८२), काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा' (१९७२) सुरेश सिन्हा के 'पत्थरों का शहर' (१९७१) और 'सुबह अँधेरे पथ पर', ओंकार राही का 'शवयात्रा' (१९७२), श्यामसुन्दर घोष का 'एक उलूक कथा' (१९७२), प्रदीप पंत के 'महामहिम' (१९८०), 'एक असम्भव मृत्यु' कर्तारसिंह दुग्गल का 'शरद पूनम की रात' (१९८०), प० आनन्द कुमार का 'दफा चौरासी' (१९७९), ओंकार शरद के 'अग्नियुग', 'बे बात की बात' 'किले का घेरा', महावीर अधिकारी के 'तलाश' (१९७५), 'मंजिल से आगे' (१९७६), मोहम्मद इब्राहीम का 'घूघट के पट' (१९७८), मधुकर सिंह के 'सबसे बड़ा छल' (१९७८) 'सोनभद्र की राधा' (१९७६), 'सीताराम नमस्कार' (१९७७), सहस्रवराम का इस्तीफा', नरेन्द्रनाथ का 'नौ बरस' (१९७५), प्रियदर्शी प्रकाश का मुक्तिप्रसंग (१९७८) धर्मेन्द्र गुप्त का 'अगरपुर हँसता है' (१९७८) मन्येन्द्र शरद के 'इन्द्रधनुष के पार', 'क्लोज अप' (१९७७), र० श० केलकर का 'त्रिपथा' (१९७८) लक्ष्मीधर मालवीय का 'किसी और सुबह' (१९७८) द्रोणवीर कोहली का 'हवेलियों वाले', रमेशचन्द्र सिन्हा का 'भोमाचरित' (१९८०) श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार', कुलदीप बग्गा का 'छोटा खुदा', सुदीप का 'सांगूसिंह परचारी' श्याम परमार का 'मारवाल' आदि प्रमुख हैं।

मूल्यांकन

आठवाँ दशक सामाजिक दृष्टि से भय, आतंक और मानवीय संकट का चरम

रूप का दशक है। राजनीतिक दृष्टि से स्वार्थाश्रित ढोठना, आयाराम गयाराम, दलदलमय आचरण की पराकाष्ठा का युग है। आर्थिक दृष्टि से मंदी, मुद्रास्फीति, मँहगाई के भीषणतम दबावों का युग है तो सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यहीन दशाओं जनित जड़ता और संस्कारहीनता का काल है। भय, आतंक और अस्थिरता, इस समय के जीवन की पहिचान बनी तो अनास्था अविश्वास उसके आख्यान। समष्टिगत ऐसी विषम दशाओं में व्यक्ति और भी अधिक टूटा हुआ, एकाकी, पीडित, पथभ्रान्त, हताश, अहंवादी द्विधाग्रस्त, दोहरा आचरणकर्ता, पलायनवादी, भ्रष्ट, परम्परा और आधुनिकता के दोराहे पर खड़ा हुआ दिखाई देता है। व्यक्ति के इसी रूप को इस समय के उपन्यासों ने वाणी दी है और युगजीवन के ऐसे ही स्वरूप को जीवन्त बनाने में सफलता अर्जित की है। पूर्ववर्ती दशकों की अपेक्षा इस दशक का उपन्यास जीवन के संदर्भ में अधिक प्रामाणिक और व्यक्ति के संदर्भ में अधिक विश्वसनीय आचरण करता नजर आता है। उसकी समस्याएँ भी अधिक यथार्थ, परिस्थितियाँ औचित्यपूर्ण एवं सामाजिकता का स्वरूप अधिक ईमानदारी से चित्रित किया गया है।

इस दशक के व्यक्ति ने आर्थिक, राजनीतिक दबावों के जिस चरम रूप को झेला है, सामाजिकता के जिस संश्लिष्टतम स्वरूप को भोगा है उसके चित्रण में इस दशक के रचनाकारों ने पूर्ण जागरूकता का परिचय दिया है। कथ्य की असामान्यता को प्रस्तावित करने के लिए उपन्यास के परम्परित स्वरूप को ही स्वीकारे रहने की बाध्यता से मुक्त होकर उपन्यास के साथ महनीय प्रयोग किए गए। इस प्रक्रिया में जो नवोदित उपन्यास दिशाएँ सामने आईं उनमें फन्टेसियाँ प्रतीकात्मक कथा सृष्टियाँ, कथानकरहित उपन्यास, नायकहीन उपन्यास, एब्सर्ड उपन्यास, हास्य एवं व्यंग्य प्रधान उपन्यास आदि प्रमुख हैं। फैंटेसी और एब्सर्ड उपन्यासों की संरचना पूर्ववर्ती दशकों में ही शुरू हो चुकी थी किन्तु फन्टेसी को उन्होंने उपन्यास का एक उपकरण भर बनाया था। वर्तमान दशक में फन्टेसी अब उपकरण भर न रहकर यथार्थ के सक्षम निरूपण के लिए उपयोगी कथा सेतु बन कर उपस्थित हुई। गिरिराज किशोर का 'इन्द्रसुनें', श्रवणकुमार का 'जंगल तन्त्रम्', भीमसेन त्यागी का 'नंगा शहर' बदीउज्जमा के 'एक चूहे की मौत' और 'छठातन्त्र' इत्यादि में फन्टेसी ही अब उपन्यास का पर्याय बनकर कथ्य को सबलतम ढंग से प्रस्तावित करने का आधार बनी। फन्टेसी का यह यथार्थ उपन्यास का भड़कान वाला कलेवर बना पर साथ ही अति कल्पनाओं के मायाजाल में दिग्भ्रमित करने वाला भी सिद्ध हुआ। जीवन की सारहीनता, गतिवान अंधी दौड़ के दुष्परिणाम और निरर्थकता का अहसास एब्सर्ड उपन्यासों में साकार हुआ जिसकी अभिव्यक्ति निर्मल वर्मा के 'एक चिथड़ा सुख' 'लाल टीन की छत', अशोक अग्रवाल के 'वापसी माफ़ नहीं', कृष्ण बलदेव वैद के 'विमल उर्फ जाएँ

तो कहा जाएँ', 'नमरीन' और मनोहर श्याम जोशी का 'कुरु कुरु स्वाहा' आदि उपन्यासों में प्रकट हुई।

आठवाँ दशक मानवीय भय और आतंक का दशक है। अस्थिरता इस दशक के जीवन का आधार है तो बिखराव और टूटन व्यक्ति आचरण की पहचान कहा जा सकते है। इन रचनाकारों ने युगीन जीवन एवं व्यक्ति सत्य को प्रस्तुत किया और अपनी मानवीय आस्थाओं को ऋणात्मक परिवेश में धनात्मक सिद्धियों के आधार पर अभिव्यंजित करने की चेष्टा की। नरेन्द्र कोहली का 'आतंक', योगेश कुमार का 'टूटते बिखरते लोग', मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप', अमृतराय का 'धुआं', महीपसिंह का 'सबसे बड़ा छल', राही मासूम रजा का 'कटरा बी आर्जू', महेन्द्र भल्ला का 'दूसरी तरफ' यशपाल का मेरी तेरी उसकी बात', कामतानाथ का 'एक और हिन्दुस्तान' आदि इसी प्रवृत्ति को प्रस्तावित करने वाले लेखक है जिनके उपन्यास जीवन के बिखराव टूटन और निरर्थकता को व्यंजित करते है।

कतिपय नवोदित लेखकों ने सामयिक भारतीय व्यक्ति चेतना के उस रूप को उपन्यासों में प्रस्तुत किया जो टूटते भ्रमों, परिस्थितियों में जकड़े उलझे लोगों की बन्दी मानसिकता और शासकों के घृणित आचरणों के प्रति तल्खी या विवशता भरे चिन्तन को प्रकट करते है। देवेश ठाकुर का 'भ्रमभंग', प्रदीप पंत का 'महामहिम', मन्नू भण्डारी का 'महाभोज', गिरिराज शुक्ल का 'नौकर की कमीज', कमलेश्वर का 'काली आँधी' गंगाप्रसाद विमल का 'मरीचिका', हृदयेश का 'हत्या', जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का 'मुरदाघर', रामचन्द्र शाह का 'गोबर गणेश आदि इसी मानसिकता पर केन्द्रित उपन्यास हैं।

उलझी जीवन दशाओं की यथावत अभिव्यक्ति के लिए फोटोजेनिक स्टिल दृश्यों का कृष्णा सोबती के 'जिन्दगीनामा' में, गिरिराजकिशोर के 'लोग' में मनोहरश्याम जोशी के 'कसप' में प्रकट किया गया है। तो वृहत्तर मानवीय भय-खौफ और विश्व पर मँडराती युद्धों की काली छाया को सुदर्शन मजीठिया के 'तोपों के साथ में', जैसे उपन्यासों में समेटा गया है। दूसरी ओर तनाव दाम्पत्य सम्बन्धों को सटीक वाणी देते हुए पानू खोलिया का 'सत्तर पार के शिखर', ममता कालिया का 'बेघर', मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी', [illegible] जोशी का सहचारिणी', कामतानाथ का 'तुम्हारे नाम' आदि [illegible] गए।

इस दशक के उपन्यासकार ने समुपस्थित प्रश्न समस्याओं के [illegible] जागरूक चेष्टाओं का परिचय दिया। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' [illegible] हरिजन समस्या को समेटकर सामने आया और [illegible] के [illegible] दिखलाने की जगह स्थितियों के मध्य का जीवन मर्मों [illegible]

'दूसरा सूत्र' (देवराज) बदा में जीवन की चिन्ताधारा का प्रस्तुत करता है। ऐसी दृष्टि स कथा का यह ट्रीटमट नवीन और प्रभावशाली बन सका है।

इस समय राजनीतिक वात्याचत्र म उलझे लोगों के अन्तमन मे आजादी की बात अनक रूपा म सामन आई। इस दशक म इस सदभ म विचार मन्थन करन वाली अनक रचनाएँ सामन आइ जिन्होंन राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक आधारा पर स्वतन्त्रता पूव के काल को कथा का विषय बनाया। भीष्म साहनी का 'तमस', गिरि राजकिशोर का 'जुगलबन्दी, शिवप्रसाद राय का 'श्वेतपत्र', मदुला गग का 'वशज', अश्क का 'एक नन्ही किन्दील', कृष्णा सोबती का 'जिन्दगीनामा, आदि रचनाएँ इसी कोण से लिखी गइ रचनाएँ है जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयासों को एव पूववर्ती जीवन दशाआ को अपने-अपन ढग स पेश करती है।

इसी सोच का एक अन्य रूप उन उपन्यासो म भी प्रचुरता से पल्लवित दष्टिगत होता है जिनम ऐतिहासिक-पौराणिक चरित्रा, प्रसगो, कथाआ को आधुनिक जीवन दशाआ और चिन्तन से जोडने का प्रयास हुआ है। रैक्व ऋषि के आख्यान पर आधारित हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'अनामदास का पोथा, रामकथा पर नयी प्रकाश किरण डालने वाले नरेन्द्र कोहली के 'दीक्षा', 'अवसर', 'सघप की ओर' 'युद्ध' (२ भाग), तुलसीदास और सूरदास के चरित्रा को सामाजिकता के आधार पर नूतन युग सम्पृक्ति देन वाले अमृतलाल नागर के 'मानस का हस' खजन नयन आदि उपन्यास इस दशक के ऐसे ही रचना प्रयासो को सकेतित करते हैं।

इस दशक के उपन्यासो म मूल्यवादी दष्टि म नवीनता के दशन होते हैं। छठे दशक के लेखको ने मूल्यो की निरथकता को स्वीकारते हुए पाश्चात्य मोह का प्रदशन किया और मा भारतीय वास्तविकता को पूरी तरह झुठलाते हुए कथा सृष्टियाँ दी गइ। सातवाँ दशक मूल्यहीनता का दशक सिद्ध हुआ किन्तु वतमान दशक म मूल्या के प्रति भिन्न दष्टि के दशन होते है। मूल्य विरोध और मूल्यहीनता के दुष्परिणामो को इस दशक मे देखा गया। यद्यपि इस रूप म परम्परित मूल्यों को पुन स्वीकारने का भाव पुन दिखाई दिया हो ऐसी बात भी नहीं है। इसी भाँति पूववर्ती दशको की मूल्य सम्बन्धी दष्टिया का ह्रास होकर पूरी तरह समाप्त हो गई हो ऐसा समझना भी भ्रान्ति है। किन्तु इन दोना दिशाओ म सोचने की यथावत बाध्यता के बावजूद इस दशक म नयी मूल्य दष्टि दिखाई देती है। यह दो रूपो म विकसित एक ही द्विमुखी विकासोन्मुख मान्यता कही जा सकती है। पहले रूप म इनकी विचारधारा ने मूल्यहीनता के चरम रूप को प्रस्तुत किया है। उन दशाआ को कथा का विषय बनाया गया जिनसे व्यक्ति आचरण की निकृष्टतम दशा को स्पष्ट किया जा सके। ऐसा आचरण सामाजिकता का तीव्रतम रूप म हानि पहुँचाते हुए दैनन्दिन जीवन को अधिकतम कष्टप्रद स्थितिया म डालता रहता है। मूल्यहीनता का यह रूप निलज्ज शौय, गुण्डागर्दी भ्रष्टतम

व्यवहारों को प्रस्तुत करते हुए सामान्य व्यक्ति के लिए भय, खौफ और अस्थिरता को जन्म देता रहता है। इसका अन्य रूप इतना ऋणात्मक नहीं है। आजादी के बाद की सर्वभक्षी निकृष्ट आचरणगतता और मूल्यहीन जीवन दशाओं के दुष्परिणामों का इतना सुदीर्घ भोग आज के व्यक्ति को चिन्तन के धरातल पर इन सबको नये सिरे से सोचने की प्रेरणा देता नजर आता है। इसी के परिणामस्वरूप आधारहीन पाश्चात्य जीवन पद्धति के पीछे अन्धी दौड़ लगाते जाने की विवशता को छोड़कर भारतीयता में ही जीवन के मूल उत्सों के अनुसन्धान के उल्लेखनीय प्रयास इसी विचारधारा से प्रसूत मान्यताओं के परिणाम हैं। जीवन के दार्शनिक आधार, पौराणिक ऐतिहासिक चरित्रों का पुनर्सृजन, मेटाफिजिकल जीवन दर्शन और भारतीय आस्था को अभिव्यक्ति देने की हल्की सी चेष्टाएँ एतद्‌विषयक सोच के समारम्भ के अभिनव संकेत तुल्य हैं। इसी क्रम में इस दशक के उन उपन्यासों को भी देखा जा सकता है जिनमें सभ्य विकसित देशों के लोगों के जीवन की टूटन, बिखराव की त्रासदी को एवं दूसरी तरफ के लोगों के आचरण में उभर आई असंगतता तनावग्रस्तता और सर्वव्यापी-सर्वग्रासी कुण्ठाओं को प्रकट किया गया है। एब्सर्ड जीवन-आचरण, असंगत व्यवहार, निरर्थकता का अहसास, दोहरे आचरण का दोगलापन आदि सभी कुछ, जो इस दशक के उपन्यासों में अधिक गहराई से उभरे हैं, मूल्यों के प्रति इस दशक के लेखकों की दृष्टि का परिचय देते हैं।

आठवें दशक का लेखक पूर्वापेक्षा भारतीयता से कहीं अधिक जुड़ा हुआ है। छठे सातवें दशक के लेखकों ने पाश्चात्य साहित्य के प्रति अपने रुझान को प्रस्तुत किया था। इससे हिन्दी उपन्यास में नए अनछुए तटों को समेटा जा सका, लेखकों की लेखनी का परिमार्जन हुआ, विचार परिष्कृत होकर भारतीय कूपमण्डूकता से मुक्त हुए। वे नए विषय हिन्दी उपन्यासों में आए जिनकी अभिव्यक्ति आजादी के पूर्व के उपन्यासों में नहीं हो सकी थी। मनोविज्ञान, साम्यवादी विचारधारा अस्तित्ववादी चिन्तन का अत्यंत गहरा प्रभाव इन उपन्यासों पर पड़ा। यूरोप का रचना क्रम अंग्रेजी, रूसी, फ्रेंच भाषाओं के उपन्यासों के प्रभाव के माध्यम से हिन्दी में अवतीर्ण हुआ। इस प्रक्रिया में हिन्दी उपन्यास का क्षेत्र विस्तीर्ण होकर नयी जमीन को प्राप्त हुआ। किन्तु इस प्रयास ने हिन्दी उपन्यास को जिस प्रकार महती हानि पहुँचाई वह भी उपेक्षणीय नहीं है। हिन्दी का लेखक विदेशी साहित्य और रचनाकारों के प्रभावक्षेत्र में इतनी गहराई से आ गया कि उसे स्वदेशी सब कुछ बेबुनियाद और अर्थहीन प्रतीत हुआ। उनके रचना प्रयास हिन्दी वालों को चौंकाकर विस्मयविभोर करने में या रीतिकालीन लेखकों की भाँति अपने पाण्डित्य को प्रदर्शित करने, अपनी विद्वत्ता या बहुज्ञता (विशेषतः पाश्चात्य सोच की दिशाओं के संदर्भ में) विज्ञापन में ही निरत दिखाई देते हैं। अतएव इनके उपन्यास प्रायः

विदेशी जीवन-पद्धति को ही स्वीकार किया करते हैं। अब तो सभी नगरों में यह जीवन-दशा स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु इसका चरम रूप महानगरीय कथा के उपन्यासों में देखा जा सकता है। यह ही साम्यवादी विचारधारा के नगरों में भी ऐसा ही प्रभाव भिन्न रूप में दिखाई देता है किन्तु भारतीय नगर व गाँव अब बाह्य भाषाओं के प्रति या मान्यता की सीमा तक जुड़े हुए नहीं हैं। इनकी रागात्मक सम्पृक्ति भारत पूर्ववर्ती नगरों से है जिसका प्रभाव इन पर अवश्य है। (कहीं कहीं ये उसी बुरी तरह प्रभावित हैं तो कहीं कहीं अभिभूत भर हैं।) विदेशी नगरों से भी ये प्रभावित तो हैं पर आक्रान्त नहीं हैं। इस कारण इनके जीवन पर बाह्य प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में परिलक्षित नहीं होता। इसका उभयपक्षी महत्त्व इस दशक के उपन्यासों में देखा जा सकता है। एक ओर नवीनता आई है तो दूसरी ओर भारतीय जीवन प्रसंग अधिक सक्षम ढंग से इसमें साकार हो सका है।

इस दशक के उपन्यासों में पूर्ववर्ती वैचारिकता के चित्रण में भी ह्रास हुआ। प्रेमचन्दयुगीन समस्याओं के ऊपरी आवरण से या आज़ादी के प्रथम दशक के सपनों की बौद्धिक दृष्टि से समस्याओं को चित्रित करने की अपेक्षा इन्होंने बुद्धितत्व से भावनाओं का अद्भुत सामंजस्य किया। उधर भारतीय आस्थाओं का निरूपण इसी आधार पर किया गया। आज के जीवन से राजनीति की अटूट सम्पृक्ति का इन्होंने महसूस किया। यद्यपि उसके चित्रण में व्यंग्य का स्वर अधिक है तथापि उस ओर पलायनवादी दृष्टि अपनाकर आत्म प्रयोजन में लगे रहने की संकीर्णता इनमें नहीं है।

नए उपन्यास विषयों को पकड़ने के लिए इन्होंने शिल्प पर यथाधिक ध्यान दिया। शिल्प की यह सक्षम नवीनता से अपनी पहचान कायम करने या चौंकाकर सामने लाने का प्रयास न होकर चिर-परिचित कथा विषयों की माँग के अनुरूप उपन्यास को संयोजित करने में अधिक है। भाषा के धरातल पर भी इन्होंने आत्म जागरूकता का परिचय दिया है। शास्त्रीय गरिमा सम्पन्नता से परे बोलचाल की भाषा का लुभावना रूप इनके उपन्यासों में उपस्थित है। अस्तु, आठवें दशक का उपन्यास आज़ादी के बाद की उदित नवीन आशाओं का सूत्रपात करता है।

हिन्दी उपन्यास : वर्तमान दशाएँ

नवें दशक के दो वर्षों का इतिहास इतना थोड़ा है कि केवल इसके आधार पर इस दशक के लिए कुछ कहना तर्कसंगत नहीं है। इन दो वर्षों में प्रकाशित उपन्यास फिलहाल आठवें दशक के सोच से ही विकसित स्वरूप को प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं। तथापि उनके लिए परम्परानुवर्तन का आरोप युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। इस समय जिन नए हस्ताक्षरों ने अपनी रचनाओं से आशाओं

का संचार किया है उनमें सामयिक जीवन के प्रति निजी दृष्टि है और उनका चित्रण मौलिक ढंग से करने में इन्होंने अपनी अनूठी प्रतिभा का परिचय दिया है। राजनीति की धुरीहीनता और राजनेताओं के अंतरंग जीवन के विशिष्ट स्वरूप को प्रकट करने वाला उपन्यास 'दारुलशफा' इधर का विशिष्ट उपन्यास कहा जा सकता है। इसी भाँति भारतीय परिवेश में बालक की मनोदशा को एवं परिवार में उसकी संवर्धनक्षमता पर अंकुश लगाने वाली प्रवृत्तियों को 'पप्पू' उपन्यास में प्रकट किया गया है। इनसे हिन्दी उपन्यास की भविष्य की आशाएँ जगती हैं। जिनको देखते हुए उसके आगामी स्वरूप की बात की जा सकती है।